सेकसरिया अध्ययन-माला—३

द्विवेदी-युगीन निबन्ध साहित्य

लेखक

गङ्गाबख्शसिंह, एम० ए०

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

सेक्सरिया अध्ययन-माला—३

द्विवेदी-युगीन निबन्ध साहित्य

लेखक

गङ्गाबख्शसिंह, एम० ए०

प्रकाशक

हिन्दी-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रकाशक
हिन्दी-विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय

मूल्य—तीन रुपए

मुद्रक
श्री रामचरण श्रीवास्तव
पवन प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ

सेकसरिया अध्ययनमाला—३

वक्तव्य

हिन्दी विभाग के द्वारा साहित्यिक और सांस्कृतिक खोज-सम्बन्धी कार्य "लखनऊ विश्वविद्यालय प्रकाशन" के रूप में हम प्रस्तुत कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में 'सेठ भोलाराम सेकसरिया-स्मारक ग्रन्थ-माला' के कई पुष्पों से साहित्यिक विद्वान पहले से ही परिचित हैं। इसके अन्तर्गत उच्चकोटि के गवेषणापूर्ण वृहदाकार ग्रन्थों का प्रकाशन किया जा रहा है। ये ग्रन्थ प्राय: हिन्दी-विभाग के अध्यापकों अथवा विद्यार्थियों के द्वारा 'पी-एच० डी०' डिग्री के लिए प्रस्तुत किये गये प्रबंध हैं। परन्तु हमारे यहाँ एम० ए० की परीक्षा के लिए लिखे गये कुछ छोटे प्रबंध भी बड़ी संख्या में प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। इन छोटे-छोटे अध्ययनों को प्रकाशित करने के विचार से ही विश्वविद्यालय में एक "सेकसरिया अध्ययनमाला" का सूत्रपात किया गया है।

हम श्री शुभकरण जी सेकसरिया के परम आभारी हैं जिन्होंने अपने स्वर्गीय पिता श्री भोलाराम सेकसरिया के नाम पर इन दोनों ग्रन्थ-मालाओं के लिए निधि प्रदान की है और उसी के बल पर ही हम इन मालाओं में सूत्र-संचालन कर रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'द्विवेदी-युगीन निबन्ध साहित्य' इस 'विद्यार्थी अध्ययन-माला' का तृतीय पुष्प है। श्री गंगाबख्श सिंह ने इसे एम० ए० की थीसिस के रूप में लिखा था। आज कल आप न्याय-विभाग में मुंसिफ के पद पर आसीन हैं। आशा है, भविष्य में भी आप हिंदी की उन्नति में रुचि लेते और इसी प्रकार के ग्रन्थों का निर्माण करते रहेंगे।

दीनदयालु गुप्त
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
लखनऊ

निवेदन

भारतेन्दु-युग का विकास ही हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के जन्म का इतिहास है। हिन्दी के इसी स्वर्ण-युग में साहित्य के अन्य अङ्गों के साथ-साथ निबन्ध-साहित्य की भी पर्याप्त रचना हुई। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रेमघन प्रभृति उस युग के प्राय: सभी साहित्यकारों ने अपने हर प्रकार के भावों को व्यक्त करने का प्रमुख माध्यम निबन्ध को बनाया। असन्तोष, व्यङ्ग्य, जागरण और हिन्दी के आन्दोलनों को जिन साधनों से जीवित रखने के जो प्रयत्न उन्होंने किये उनमें निबन्ध का बड़ा भाग था। उस युग के पश्चात् निबन्ध-साहित्य की श्रीवृद्धि पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके अन्य समकालीन लेखकों द्वारा हुई। द्विवेदी-युग में प्राय: सभी विषयों पर निबन्धों की रचना हुई। कला की दृष्टि से भी इस युग में निबन्ध-कला का सुन्दर विकास हुआ। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग का बहुमूल्य निबन्ध-साहित्य तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में बन्द पड़ा है। उसके उद्धार, सङ्कलन और प्रकाशन का कोई प्रयत्न नहीं हो रहा है। पत्र-पत्रिकाओं में निहित निबन्ध-साहित्य का अवलोकन-मनन किये बिना ही निबन्ध-साहित्य पर आलोचनात्मक पुस्तकों का प्रकाशन होता जा रहा है। इस आलोचनात्मक साहित्य में मनन और सामग्री का अभाव बहुत ही खटकता है। द्विवेदी-युग पर समालोचना साहित्य में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस सम्बन्ध में डा० श्री कृष्ण लाल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' और डा० उदयभानु सिंह का 'पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग' नामक खोजपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों में तत्कालीन निबन्ध-साहित्य पर अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है; 'थीसिस' की निर्दिष्ट सीमाओं के कारण ही विद्वान् इस ओर अधिक ध्यान न दे सके। अतएव इस अभाव की पूर्त्ति ही प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन का लक्ष्य है। निबन्ध के प्रमुख अङ्ग, भेद, विषय, शैली और उसके प्रधान गुणों एवं विशेषताओं को ध्यान में रख कर प्रस्तुत ग्रन्थ में द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य पर लेखक ने अपने विचार प्रकट किये हैं।

इस अध्ययन को सात अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में साहित्य और उसके विभिन्न अङ्गों से निबन्ध की विभिन्नता तथा निबन्ध की प्रमुख विशेषताओं का परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में, हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास किस भाँति हुआ है इसका संक्षिप्त विवरण देने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक अध्ययन के लिए आधुनिक साहित्य के तीन प्रमुख युगों—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग तथा आधुनिक युग—के निबन्धों की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख भी संक्षेप में कर दिया गया है। तृतीय अध्याय में द्विवेदी-काल की भाव और विचारधारा को समझने में तत्कालीन निबन्ध-साहित्य किस भाँति सहायक होता है इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। उस युग की भाव और विचारधारा को समझने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भी यथासम्भव उल्लेख कर दिया गया है। चतुर्थ अध्याय में यह दिखाया गया है कि इस युग में कितने प्रकार के निबन्धों की रचना हुई; साथ-ही उनकी विशेषताओं का विवरण भी उपस्थित किया गया है। पञ्चम अध्याय में तत्कालीन निबन्धों में प्रयुक्त गद्य-शैलियों का विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में निबन्धों की भाषा के विषय में विचार किया गया है। सप्तम् अध्याय उपसंहार के रूप में है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में लेखक को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। द्विवेदी-युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ जिनमें तत्कालीन विद्वान् लेखकों के निबन्ध बन्द पड़े हैं। दुर्भाग्य से वे पत्रिकाएँ भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं हैं। उस युग की पत्रिकाओं को देखे बिना तत्कालीन निबन्धों पर विचार करना लेखक को असङ्गत प्रतीत हुआ। इसीलिए उस युग की पत्रिकाओं को देखने के हेतु काशी और प्रयाग जाना पड़ा। काशी में नागरी प्रचारिणी सभा तथा श्री ब्रजरत्नदास, बी० ए०, एल-एल० बी० के सङ्ग्रह में द्विवेदी युगीन अनेक पत्रिकाएँ प्राप्त हुईं। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग में तत्कालीन अनेक पत्रिकाएँ देखने को मिलीं। इसके अतिरिक्त टैगोर लायब्रेरी लखनऊ विश्वविद्यालय, तथा स्थानीय रामकृष्ण सेवा मिशन लायब्रेरी, गङ्गा प्रसाद मेमोरियल लायब्रेरी तथा अमीरुद्दौला पब्लिक लायब्रेरी में भी लेखक को पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई। अतएव इस ग्रन्थ के लिखने में जिन सज्जनों और संस्थाओं की सहायता मिली है उनके प्रति लेखक आभारी है। लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष डा० दीनदयालु गुप्त के प्रति अपनी कृतज्ञता

प्रकट करता है क्योंकि उनके स्नेहयुक्त प्रोत्साहन तथा मार्ग-निर्देशन से यह कार्य सम्पादित हो सका है। डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित तो लेखक के प्रमुख पथ-प्रदर्शक ही हैं; उनके ही चरण-कमलों में बैठ कर इस ग्रन्थ की रचना इस रूप में हो सकी है। डा० भगीरथ मिश्र का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर उचित परामर्श देकर मार्ग प्रदर्शन किया है। डा० केसरी नारायण शुक्ल तथा श्री हरीकृष्ण जी अवस्थी के प्रति भी लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय और अनेक सत्परामर्श दिये हैं।

इस ग्रन्थ के प्रस्तुत करने में समस्त सामग्री एक स्थान पर न मिलने से उसका यथोचित उपयोग न हो सका। इसकी रचना परीक्षा के दृष्टिकोण से ही हुई है। अतएव उसके कलेवर को सीमित रखने के प्रयत्न में बहुत सी बातें संक्षेप में ही प्रस्तुत कर दी गई हैं। यदि साहित्य-पुष्प के रसिक जनों को इससे कुछ भी सान्त्वना मिली तो लेखक अपनाश्रम सफल समझेगा।

विनीत

लेखक

विषय-सूची

पहला अध्याय

साहित्य और निबन्ध

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मञ्जुल सामञ्जस्य का सूचक है। संस्कृत ग्रन्थों में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—'सहितस्य भावः साहित्यम्'[1] अर्थात् साहित्य सहित का भाव है। इसके दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम यह कि साहित्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश हो और द्वितीय यह कि जिसमें हमारे हितकारी भावों का समावेश हो वह साहित्य है। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में साहित्य विद्या को पञ्चमी विद्या कहा है जो चार प्रमुख विद्याओं—पुराण, न्याय-दर्शन, मीमांसा, धर्म-शास्त्र—का सारभूत है।[2] शास्त्र और साहित्य में मूल अन्तर यह है कि शास्त्र में शब्दों का प्रयोग अर्थबोध के लिए ही होता है परन्तु साहित्य में शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्व प्रदान किया जाता है। शास्त्र में शब्द को केवल साधन के रूप में अपनाया जाता है, इसीसे भाषा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता। परन्तु साहित्य में भाषा को उतना ही उच्च स्थान दिया जाता है जितना कि भाव को। साहित्य में भाषा और भाव, शब्द और अर्थ का मञ्जुल सामञ्जस्य उपस्थित करना ही साहित्यकार का प्रमुख लक्ष्य रहता है।

संस्कृत ग्रन्थों में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। बिल्हण ने 'विक्रमाङ्क देवचरित' में 'काव्य-अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन

---

[1] साहित्यं=सहित + ष्यञ् 'शब्द कल्पद्रुम', पृ० ३४४ पञ्चम खण्ड।
साहित्यं=सहितस्य भावःष्यञ्—'वाचस्पत्यम्', संकलनकर्त्ता तारानाथ तर्क वाचस्पति पृ० ५२१०।

[2] "पञ्चमी साहित्यविद्या" इति यायावरीयः। साहि चतसृणामपि विद्यानां निष्यन्दः—'काव्य-मीमांसा', पृ० ४, सम्पादक सी० डी० दलाल, एम० ए०, और आर० अनन्तकृष्ण शास्त्री।

से उत्पन्न होने वाला बतलाया है' ।[1] सारूप उसके ठीक विपरीत आचार्य ने साहित्य और काव्य में कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। 'शब्दार्थौ भामह सहितौ काव्यम्'[2] कह कर साहित्य और काव्य को पर्यायवाची बना दिया है। अँगरेजी साहित्य में 'साहित्य' शब्द का पर्यायवाची 'लिटरेचर' शब्द प्रयुक्त होता है। 'लिटरेचर' शब्द भी कभी व्यापक अर्थ में और कभी संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होता है।[3] जब इस शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग होता है तो इसके अन्तर्गत उस समस्त रचना-समूह की गणना होती है जो सभी जातियों द्वारा, सब समयों पर लिपिबद्ध किया गया हो; और जिसमें मनुष्य ने अपने अनुभूत ज्ञान, विचार तथा भावनाओं को भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया हो।[4] परन्तु सङ्कुचित अर्थ में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं रचनाओं के लिए होता है जिनमें सौन्दर्य हो तथा हृदय में स्थित भावों को प्रभावित करने की सामर्थ्य हो। ये कृतियाँ हमारी रुचि को ही जाग्रत नहीं करतीं वरन् हमारे भावों को भी प्रदीप्त करती हैं।[5] हिन्दी में भी 'साहित्य'शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में होने लगा है। 'साहित्य' के अन्तर्गत उन समस्त ग्रन्थों अथवा विचारों की गणना की जाती है जो किसी भाषा विशेष में निबद्ध किये गये हों। इस अर्थ में 'साहित्य' के स्थान पर 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग अधिक उचित प्रतीत होता है। वास्तव में 'साहित्य' की सीमा में उन्हीं पुस्तकों को गिना जा सकता है जिनका उद्देश्य केवल मनुष्य के मस्तिष्क को सन्तुष्ट करना ही नहीं वरन् हृदय को प्रभावित करना भी होता है। साहित्य के सहारे ही मनुष्य जीवन के दुख और आपत्तियों को विस्मृत कर कल्पना और भावना के अनन्त एवं रमणीय लोक में विचरण कर सकता है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने साहित्य और काव्य को समानार्थी कह कर कविता को काव्य का एक प्रमुख अङ्ग माना है,[6] जो अधिक उचित प्रतीत होता है।

साहित्य-शास्त्र के अनुसार साहित्य का विभाजन प्राय: दो भागों में किया जाता है, दृश्य और श्रव्य। श्रव्य साहित्य में श्रवण प्रधान है, वह श्रवणेन्द्रिय

---

१ साहित्य पाथोनिधि मन्थनोत्थं काव्यामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।

२ काव्यालङ्कार १।१६।

३ देखिए The Oxford English Dictionary Vol. VI, pp. 342-43.

४ The New Gresham Encyclopedia Vol. VII, पृ० २१६।

५ देखिए वही, पृ० २१६।

६ 'साहित्यालोचन-श्यामसुन्दरदास', पृ० ४३-४४ सं० २००४।

द्वारा ही मनस्तृप्ति का साधन बनता है। दृश्यकाव्य में अभिनय प्रधान है, वह नेत्रेन्द्रिय के द्वारा रसिकजनों के चित्त को अनुरञ्जित करता है। दृश्यकाव्य का ही दूसरा नाम रूपक अथवा नाटक है। इसके पश्चात् श्रव्य-काव्य के दो पक्ष होते हैं—आकारात्मक और वस्त्वात्मक। आकारात्मक विभाग के अन्तर्गत गद्य, पद्य और मिश्रित आते हैं। पद्य में गद्य की अपेक्षा भाव एवं छन्द-लय की प्रधानता रहती है। गद्य की उत्पत्ति 'गद्' धातु से है। वह बोल चाल की स्वाभाविक भाषा से अधिक सम्बन्ध रखता है। गद्य और पद्य के सम्मिश्रण को मिश्रित कह सकते हैं। वस्तु विचार से श्रव्य-काव्य तीन प्रकार का होता है—१—महाकाव्य, २—खण्डकाव्य और ३—मुक्तक। महाकाव्य की विशेषताएँ आचार्य दण्डी ने 'काव्यादर्श' में[१] और विश्वनाथ कविराज ने 'साहित्य-दर्पण' में[२] स्पष्टरूप से व्यक्त की हैं। महाकाव्य में आकार की विशदता के साथ-साथ भावों को उदात्तता और भव्यता रहती है। जीवन की अनेकरूपता के अतिरिक्त जातीय जीवन की झलक मिलती है। आत्मा के किसी उदात्त आशय, सभ्यता या संस्कृति के किसी युग-प्रवर्तक संघर्ष अथवा समाज की किसी भी उद्वेगजनक स्थिति को लेकर इसकी रचना की जा सकती है। खण्डकाव्य में सम्पूर्ण जीवन की विशद विवेचना न होकर जीवन के एक अङ्ग को ही अपनाया जाता है। खण्डकाव्य का उद्देश्य साधारण हो सकता है, परन्तु महाकाव्य का एक महत् उद्देश्य होना अनिवार्य है। मुक्तक काव्य में अर्थ-ग्रहण करने के लिए किसी विशेष सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं पड़ती; वह स्वतः पूर्ण होता है।

गद्य का विभाजन सात भागों में किया जाता है—उपन्यास, २—कहानी, ३—निबन्ध, ४—आलोचना, ५—जीवनी, ६—काव्यात्मक गद्य और ७—पत्र। उपन्यास की कोटि में साधारणतः वह सम्पूर्ण कथा-साहित्य आ जाता है जिसका आधार कल्पना-प्रसूत होता है और गद्य की रीति से व्यक्त किया जाता है। कहानी में उपन्यास की अपेक्षा आकार की संक्षिप्तता तथा काव्यत्व और लेखक का व्यक्तित्व अधिक रहता है। जीवनी इतिहास और उपन्यास के बीच की वस्तु है, वह मनुष्य के अन्तर और बाह्यस्वरूप का कलात्मक निरूपण है। पत्रों में साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा व्यक्तित्व का अधिक पुट रहता है। इसके अतिरिक्त पत्र-लेखक को थोड़े से थोड़े शब्दों में अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन कर, भावग्राहक की भावनाओं को प्रभावित

---

[१] देखिए 'काव्यादर्श', प्रथम परिच्छेद, १४-१९ श्लोक।

[२] देखिए 'साहित्य-दर्पण', षष्ठ परिच्छेद, १५-२५ श्लोक।

करने का सदैव ध्यान रहता है। काव्यात्मक गद्य ऐसे प्रकार का गद्य है जिसमें
भाव तथा अनुरञ्जन करनेवाली कल्पना-प्रधान शैली का ग्रहण काव्य के ढङ्ग
पर होता है। साहित्य के इस अङ्ग की यह प्रमुख विशेषता है कि लेखक को
विषयान्तर की ओर जाने का अवसर नहीं मिलता। वह एक निश्चित दिशा
की ओर अपनी धुन में मस्त होकर स्वच्छन्दरूप से विचरण करता है, इधर-
उधर भटकता नहीं। निबन्ध तथा आलोचना में परस्पर बहुत कुछ समानता
है। किसी भी साहित्यिक ग्रंथ का अध्ययन कर उसके गुण-दोषों की मीमांसा
कर, उसके विषय में अपनी सम्मति प्रकट करना आलोचना है। निबन्धों में
उक्ति-वैचित्र्य तथा रचना-कौशल को अधिक महत्व देकर भावों की विचारों की
अपेक्षा अधिक प्रधानता रहती है। निबन्ध में विषय-प्रतिपादन के साथ-साथ
लेखक का व्यक्तित्व भी रहता है।

साहित्य के विविध रूपों के इतिहास में निबन्ध सबसे आधुनिक रूप
है। 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' शब्दों का प्रयोग संस्कृत और प्राकृत साहित्य में
अति प्राचीन है। परन्तु आधुनिक काल में इन शब्दों का प्रयोग जिस अर्थ में
हो रहा है वह पूर्ववर्ती अर्थ से भिन्न है। वास्तव में 'निबन्ध' शब्द की, आधु-
निक रूप में, कल्पना हमारे साहित्य में अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क से आई
है। निबन्ध को लेखक की व्यक्तिगत विशेषता, भाषा की स्वच्छन्द अबाधगति
और शैली के योग से एक विभिन्न प्रकार का साहित्यिक रूप मिला है।
निबन्ध में प्रबन्ध का सा तारतम्य रहता है, किन्तु एक सङ्कलन में मुक्तकों की
सी स्फुटता एवं असम्बद्धता भी रहती है। आधुनिक निबन्धों की साहित्यिक
रसात्मकता व्यक्तित्व की चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति और भावना-प्रधान शैली ने
ही, इनको प्राचीन निबन्धों से एक भिन्न स्वरूप दे दिया है।

निबन्ध हमारे मनोभावों की प्रतिमूर्त्ति हैं। मौंग्टेन के अनुसार 'एसेइस'
(Essais) नामक रचना का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व को प्रकाशित करना है।
उसके 'एसेइस' व्यक्तिगत विचारों को एक कलात्मक सूत्र में पिरोने का प्रयास
करते हैं और इस प्रकार भावग्राहक को आनन्द-प्रदान करने के प्रधान साधन
बनते हैं। निबन्ध में लेखक किसी विशेष विषय के सम्बन्ध में, अपनी कल्पना
की सहायता से, संक्षिप्तता के साथ अपने भावों एवं विचारों को ऐसी शैली में
व्यक्त करना चाहता है, जिससे पाठक का अन्तरतम प्रभावित हो सके। उसमें
व्यापक सहानुभूति और आत्मीयता के साथ व्यक्तिगत और स्वानुभूत विचारों
का तीव्र प्रकाशन रहता है। निबन्ध के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के
लिए निबन्ध की परिभाषा जानना आवश्यक है।

निबन्ध की परिभाषा

अँगरेजी साहित्य का सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि निबन्ध को कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी गई है। समय समय पर विभिन्न लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार अलग-अलग परिभाषाएँ दी हैं। मौण्टेन के अनुसार निबन्ध, साहित्य की उस विद्या को कहते हैं जिसमें लेखक के आत्म-प्रकाशन का प्रयासमात्र रहता है। इसीलिए एडीसन ने मौण्टेन को संसार का सर्वश्रेष्ठ आत्मवक्ता कहा है।[१] लार्ड फ्रांसिस बेकन, जो अँगरेजी साहित्य में निबन्ध का जन्मदाता माना जाता है, निबन्ध को विभिन्न अर्थ में लेता है। वह निबन्ध को 'विकीर्ण चिन्तन' के रूप में ग्रहण करता है।[२] डाक्टर जानसन के विचार से 'निबन्ध मस्तिष्क का शिथिल प्रकाशन मात्र है, उसमें यथाक्रमता और एक शृङ्खलता नहीं होती'।[3] परन्तु विद्वानों को यह परिभाषा दोष से मुक्त प्रतीत नहीं हुई[४] और जिससे निबन्ध की अनेक परिभाषाएँ बना डाली गईं। 'निबन्ध एक सामान्य कलेवर की अधिकांशत: गद्य में लिखी गई वह रचना है जिसमें किसी विषय का सरल चलताऊ निरूपण होता है, जो विशेषत: केवल उसी विषय से सम्बद्ध रहती है, और उस

---

[१] The most eminent egoist that ever appeared in the world was Montaine.

[२] "To write just treatises, requireth leisure in the writer, and leisure in the reader, and therefore are not so fit, neither in regard of your highness' princely affairs, nor in regard of my continual service, which is the cause that hath made me choose to write certain brief notes set down rather significantly than curiously, which I have called *Essays*. The word is late, but the thing is ancient, for Senecas' epistles' to Lucilius, if you mark them well, are but esssays, that is *dispersed meditations*, though conveyed in the form of epistles—Bacon to Prince Henry—Dictionary of the English Richardson, Vol. I, 709.

[3] An essay is the sally of the mind, an irregular undigested piece, not a regular and orderly composition—Dr. Johnson.

[४] देखिए—The Encyclopaedia Britannica, 14th, Edition, Vol. 8, p. 716.

विषय का लेखक पर जैसा प्रभाव पड़ता है।[१] 'निबन्ध वह रचना है जिसमें किसी बात को सिद्ध करने का अथवा उदाहरणों द्वारा प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जाता है और जो सामान्यतया एक प्रबन्ध की अपेक्षा संक्षिप्त और कम व्यवस्थित एवं पूर्ण होती है जिससे कि वह रचना किसी रुचिकर विषय-दर्शन अथवा सामान्य जीवन का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराती है'।[२] वास्तव में निवन्ध की वैज्ञानिक परिभाषा देना अत्यन्त दुस्तर कार्य है। जे. बी. प्रीस्टले ने इसी कठिनाई को ध्यान में रखते हुए निवन्ध की एक अद्‌भुत परिभाषा दी है—'निबन्ध वह साहित्यिक रचना है जिसे एक निबन्धकार ने रचा हो।' निबन्ध की एक नवीन परिभाषा के दर्शन आक्सफोर्ड अँगरेजी कोश में होते हैं। यह परिभाषा निवन्ध के आधुनिक रूप को ध्यान में रखकर की गई है। 'निबन्ध किसी विषय-विशेष अथवा किसी विषय के अंश पर लिखी गई साधारण विस्तारवाली रचना है, जिसमें आरम्भ में अपरिपूर्णता की भावना निहित रहती थी, किन्तु अब उसका प्रयोग एक ऐसी रचना के लिए होता है जिसकी परिधि सीमित होने पर भी शैली प्रायः प्रौढ़ एवं परिमार्जित होती है'।[३]

संस्कृत ग्रन्थों में 'निबन्ध' की व्याख्या 'निबध्नातीति निवन्ध':—[४] जो कि बाँधता है वही निवन्ध है—कहकर की गई है। आधुनिक भारतीय

---

[१] देखिये वही—पृ०७१६—"The essay is a composition of moderate length, usually in prose, which deals in an easy, cursory way with a subject, and in strictness with that subject only, as it affects the writer."

[२] "Essay a composition in which something is attempted to be proved or illustrated usually shorter and less methodical and finished than a systematic and formal treatise, so that it may be a short disquisition on a subject of taste, philosophy, or, common life."—The New Gresham Encyclopaedia Vol. IV, p. 293.

[३] An essay is a composition of moderate length on any particular subject or branch of a subject, originally implying want of finish, but now said of a composition more or less elaborate in style, though limited in range." A New Oxford English Dictionary, Vol. III, p. 293.

[४] 'शब्द कल्पद्रुमः' स्यार राजा राधाकान्तदेव बहादुरेण विरचितः द्वितीय काण्डः, सन् १८१४ ई०, पृ० ८८४।

विद्वानों ने निबन्ध की परिभाषा देने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है। जहाँ-कहीं ऐसा प्रयत्न किया गया है वहाँ अँगरेजी शब्दों के सहारे निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख कर दिया गया है। आचार्य रामचन्द्र-शुक्ल ने निबन्ध के विषय में लिखते समय उसकी परिभाषा देने का कोई प्रयत्न नहीं किया है—"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है। इसीलिए गद्य-शैली के विवेचक, उदाहरणों के लिए अधिकतर निबन्ध ही चुना करते हैं,"[१] कह कर ही वे अलग हो गये हैं। डा० सूर्यकान्त शास्त्री के अनुसार, "निबन्ध एक प्रकार का स्वगत भाषण है। स्वगत भाषण में पाठक के ध्यान को वश में रखना नितान्त कठिन होता है। एक निबन्धकार के पास ऐसे साधन बहुत ही न्यून होते हैं जिनके द्वारा वह पाठक के मन को अपनी रचना में बाँधे रखे। कहने के लिए उसके पास कहानी नहीं होती जिसके द्वारा पाठक के मन में उत्सुकता बनाये रखे, गाने के लिए उसके पास स्वर, ताल तथा लय नहीं होते, जिनके द्वारा वह पाठक को मन्त्रमुग्ध बनाये रखे।[२]" इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें निबन्ध की विशेषताओं का ही वर्णन किया गया है। श्यामसुन्दरदास ने भी अपने ग्रन्थ 'साहित्यालोचन' में 'निबन्ध' वाले प्रकरण में परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं किया है। दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ का एक अध्याय निबन्ध के नाम से अभिहित नहीं हो सकता। निबन्ध की कोटि तक पहुँचने के लिए उसमें वह सब सामग्री सन्निहित की जानी चाहिए जिससे उसका व्यक्तित्व प्रकट हो सके।[३] आगे एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—"प्राचीन निबन्ध एक प्रकार से विज्ञान की विश्लेषणात्मक कोटि में रख दिये गये। साहित्य की रसात्मकता का उनमें बहुत कुछ अभाव रहा। न तो उनमें व्यक्तित्व की कोई चमत्कारपूर्ण मुद्रा दिखाई दी और न उनमें भावना-प्रधान शैली का प्रवेश ही हो पाया"।[४] इन उदाहरणों को देखने से ज्ञात होता है कि निबन्ध-रचना का अपना अलग व्यक्तित्व होता है। उसमें साहित्यिक रसात्मकता के साथ लेखक का व्यक्तित्व तथा भावना-प्रधान शैली का होना आवश्यक है। बाबू गुलाबराय ने निबन्ध की परिभाषा में उसकी सभी विशेषताओं को एकत्र करने

---

[१] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'-पण्डित रामचन्द्रशुक्ल, पृ०५०५, सं० २००३ वि०।

[२] 'साहित्य-मीमांसा', पृ. २०७।

[३] 'साहित्यालोचन'—श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ २२५।

[४] देखिए—वही पृष्ठ, २३६।

का सराहनीय प्रयत्न किया है—"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सङ्गति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[१] वास्तव में निबन्ध की यह परिभाषा अँगरेजी ग्रन्थों में दी हुई परिभाषाओं को ही दृष्टि में रख कर की गयी है; अतएव यह बहुत ही उपयुक्त बन पड़ी है।

निबन्ध का विषय अत्यन्त ही विस्तृत तथा वैविध्यपूर्ण है,। धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा अन्य प्रकार के विषयों पर निबन्ध की रचना हो सकती है। इसके अतिरिक्त उसमें विभिन्न शैलियाँ तथा लेखकों के विभिन्न दृष्टिकोण भी देखने को मिलते हैं। इसलिए निबन्ध की परिभाषा को कुछ नपे-तुले शब्दों के कठघरे में बन्द कर देना कठिन सा प्रतीत होता है। निबन्ध की परिभाषा में उसकी विशेषताओं का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त होगा। निबन्ध वह साहित्यिक गद्य-रचना है जिसमें लेखक किसी विषय से प्रभावित होकर, अपने ही ढङ्ग से प्रौढ़ एवं परिमार्जित शैली में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्तकर, पाठक की मनोवृत्तियों को उत्तेजित करता हुआ, चातुर्य-चमत्कार से भाव- ग्राहक की जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा को शांत करता है।

निबन्ध का स्वरूप

निबन्ध की परिभाषा के पश्चात् निबन्ध के स्वरूप से भी परिचित हो जाना आवश्यक है। निबन्ध के स्वरूप की ओर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि इस विषय में पश्चिमीय एवं भारतीय विद्वानों में विभिन्नता है। इस विभिन्नता का प्रमुख आधार 'निबन्ध' और 'एसे' शब्दों की व्युत्पत्ति ही है। संस्कृत साहित्य में 'निबन्ध' शब्द का अर्थ है भली-भाँति कसी हुई, गठी हुई रचना। अतएव निबन्ध में तारतम्य और संगठन होना स्वाभाविक है। परन्तु 'एसे' का अर्थ है प्रयत्न। मौण्टेन ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। उसके निबन्ध कल्पनालोक में विचरण करनेवाले प्राणी के उद्गार हैं। अतएव उनमें तारतम्य और संगठन का अभाव होना स्वाभाविक है। 'कसाव' शब्द से निबन्ध के आकार की संक्षिप्तता का भी आभास मिलता है। आक्सफोर्ड अँगरेजी कोश में भी निबन्ध को 'सामान्य लम्बाई' का कहा है[२]। अतएव जहाँ

---

१ 'सिद्धान्त और अध्ययन'—काव्य के रूप, पृष्ठ २२७।

२ "A composition of *moderate length*................" A New Oxford Fnglish Dictionary, Vol. III, p. 293.

तक आकार का प्रश्न है भारतीय एवं अभारतीय सभी विद्वान् एक मत हैं। परन्तु 'कसाव' शब्द से एक दूसरी ध्वनि भी निकलती है कि निबन्ध को सुगठित एवं सुव्यवस्थित भी होना चाहिए। पश्चिमीय विद्वानों के अनुसार निवन्ध की शैली में शैथिल्यपूर्ण वातावरण की प्रधानता होती है[1] और वह किसी विशेष दिशा की ओर तीव्रगति से प्रवाहित नहीं होती। परन्तु भारतीय विद्वान्, जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि, निबन्ध के प्रत्येक वाक्य को सम्बद्ध विचार-खण्ड से युक्त होना अनिवार्य समझते हैं[2]।

इस मतभेद का मूल कारण निबन्ध में निवन्धकार के व्यक्तित्व के सन्निवेश का भिन्न-भिन्न अर्थों में अपनाया जाना ही है। आचार्य शुक्ल के अनुसार वैयक्तिकता से आशय लेखक की शैली एवं उसकी हृदयगत प्रवृत्तियों की एक-मात्र झलक से है[3]। व्यक्तिगत विशेषता लाने के लिए निवन्ध में विचारों की शृङ्खला तोड़ देना अथवा सामान्य अनुभूति से परे अलौकिक बातों का सन्नि वेश करना वाञ्छनीय नहीं समझा जाता। निवन्धकार अभीष्ट विषय का प्रतिपादन ही निजी ढङ्ग से करता है। वह निवन्ध में अपने विषय में अधिक न कहकर वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में ही अपने विचारों के प्रकाशन के लिये सचेष्ट रहता है। परन्तु पश्चिमी विद्वानों ने मौण्टेन के आधार पर निबन्धकार से सम्बद्धित व्यक्तियों एवं घटनाओं आदि के चित्रण पर, जिससे निवन्धकार के विषय में आत्मीयता का अनुभव करने लगें, अधिक महत्व दिया गया है। इस तरह हम निबन्ध के प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में अधिक ज्ञान न प्राप्त कर निवन्धकार से अधिक परिचित हो जाते हैं। ऐसी रचना में, इस विशेष स्थिति में, भारतीय निवन्धों का प्राण भावों एवं विचारों का कसाव कहाँ उपलब्ध हो सकता है? पश्चिम में निबन्ध को कविता के समकक्ष रख कर, मनस्तृप्ति एवं हृदय को अनुरञ्जित करने का प्रधान साधन मानते हैं, इसलिए निवन्ध के सरल विधान की ओर अधिक ध्यान देते हैं। परन्तु भारत के विद्वानों ने निवन्ध में विचार गुम्फन को अधिक महत्व देकर उसे मनन एवं अभ्यास की वस्तु माना है।

गद्य की महत्ता हमारे यहाँ प्राचीन काल से मानी गयी है। गद्य-साहित्य की प्रौढ़ता ही भाषा की व्यञ्जना-शक्ति के विकास की द्योतक है। एक प्राचीन उक्ति के आधार पर गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है[4]। गद्य-साहित्य

---

[1] देखिए डा० जानसन की निबन्ध की परिभाषा।

[2] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—परिडत रामचन्द्र शुक्ल पृ० ५०६।

[3] देखिए वही, पृष्ठ ५०५।

[4] गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।

में निबन्ध का प्रधान स्थान है। अँगरेजी के प्रसिद्ध समीक्षक जे० डब्ल्यू० मेपरिट की धारणा है कि निबन्ध गद्य लेखक की कसौटी है[३]। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही देखने को मिलता है। साहित्य की अन्य विधाओं में भाषा को भाव-प्रकाशन का माध्यम मात्र माना जाता है। उसमें भाषा को उतनी महत्ता नहीं दी जाती है जितनी भावों को। परन्तु निबन्धकार को भाषा के प्रति अधिक सतर्क रहना पड़ता है। यदि लेखक तर्क-वितर्क पूर्ण विचारों का प्रतिपादन, भावनाओं का प्रकाशन एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति शिथिल एवं लचर भाषा में करे तो पाठक के मन को अनुरञ्जित तथा प्रभावित करने में असमर्थ रहेगा।

निबन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले अन्य शब्द

'निबन्ध' शब्द के अर्थ में सामान्य रीति से प्रयुक्त होने वाले शब्द 'रचना', 'लेख', 'प्रबन्ध', 'सन्दर्भ' आदि हैं। भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग निबन्ध के पर्यायवाची शब्दों की तरह, अपनी कृतियों में किया है। यहाँ इन शब्दों और निबन्ध के बीच भेद और साम्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। 'रचना' एक बहुत ही व्यापक शब्द है। गद्य-रचना अथवा पद्य-रचना के लिए भी रचना शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु निबन्ध गद्य-रचना का एक रूप मात्र है। रचना शब्द अँगरेजी के कम्पोजीशन (Composition) के अधिक निकट है और निबन्ध, एसे (Essay) के। रचना में व्याकरणिक नियमों के पालन तथा शब्दों के शुद्ध तथा उचित प्रयोग पर अधिक बल दिया जाता है। इसके विपरीत निबन्ध में विषय के प्रतिपादन तथा आत्माभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रायः विद्यार्थियों को 'गद्य-रचना' में सिद्ध हस्त करने के लिए 'रचना' का अभ्यास कराया जाता है। वास्तव में 'निबन्ध' एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है परन्तु 'रचना' एक व्यापक अर्थ में, अतएव 'निबन्ध' के लिए 'रचना' शब्द का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता है।

'लेख' शब्द अँगरेजी के आर्टिकल (Article) शब्द के समान ही अर्थ रखता है। किसी भी सामयिक पत्र-पत्रिका में एक लेखक के विचारों का प्रकाशन एक स्वतन्त्र रचना के रूप में रहता है, इस रचना को ही लेख की संज्ञा दी जाती है। लेख किसी भी विषय पर हो सकता है; लेख में लेखक का ध्यान विषय-प्रतिपादन की ओर अधिक रहता है। प्रतिपादित विषय सम्बन्धी

---

[३] The essay is a severe test of a writer.

विचारों को सीधी तरह से लेखक प्रकाशित करता जाता है, साहित्यिकता अथवा चमत्कार उत्पन्न कर पाठक को प्रभावित करने की ओर उसका ध्यान रहना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत निबन्धकार अपने और पाठक के बीच के दुराव को मेट कर तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है। एक बात और है कि लेख जब तक पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक साहित्य के रूप में रहता है, लेख है; परन्तु जब वही लेख किसी पुस्तक में संगृहीत किया जाता है तो 'निबन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है। 'लेख' शब्द का प्रयोग 'निबन्ध' की अपेक्षा व्यापक अर्थ में होता है। अतएव 'निबन्ध' के स्थान में 'लेख' का प्रयोग समीचीन नहीं जान पड़ता है।

'प्रबन्ध' शब्द, संस्कृत साहित्य में किसी विस्तृत—सुबद्ध और व्यापक रचना के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रबन्ध का मौलिक अर्थ सम्बद्ध कथा अथवा विषय को प्रस्तुत करने वाले लेख से समझा जाता था परन्तु आधुनिक युग में प्रबन्ध किसी विषय का प्रतिपादन करनेवाली विस्तृत रचना के अर्थ में प्रयोग किया जाने लगा है, और प्रबन्ध को कभी-कभी अंगरेजी शब्द ट्रीटाइज (Treatise) के अर्थ में और कभी-कभी थीसिस (Thesis) के स्थान में प्रयोग कर इन शब्दों का समानार्थी बनाने का भी प्रयत्न किया गया है। अँगरेजी समीक्षकों का कथन है कि जब निबन्ध में दुरूहता आ जाती है तथा अध्ययन प्रसूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है तब वह निबन्ध न रहकर प्रबन्ध हो जाता है। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'वाङ्मय-विमर्श' में 'लेख' वाले प्रकरण में इस अन्तर को अत्यन्त ही स्पष्ट कर दिया है। प्रबन्ध विस्तार से लिखा जानेवाला लेख है जिसमें प्रतिपाद्य विषय प्रधान होता है, व्यक्तित्व की योजना नाम मात्र को होती है। निबन्ध अपेक्षाकृत छोटी रचना होती है। इसमें व्यक्तित्व अपनी झलक देता चलता है। प्रबन्ध में वैसी कसावट नहीं होती जैसी निबन्ध में। निबन्ध में बन्ध निगूढ़ होता है, भाषा ऐसी कसी होती है कि शब्दों का परिवर्त्तन सम्भाव्य नहीं जान पड़ता।[1]

इधर कुछ विद्वानों ने 'संदर्भ' शब्द का प्रयोग भी निबन्ध के अर्थ में किया है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने निबन्धसंग्रह को 'संदर्भ-सर्वस्व' के नाम से अभिहित किया है। इस ग्रन्थ की भूमिका में 'सदंर्भ' शब्द की व्याख्या की गयी है। सम्बद्ध रचना ही संदर्भ है। हिन्दी के प्रत्येक शब्द की अब वैज्ञानिक व्याख्या होने लगी है; इस कारण से 'संदर्भ' शब्द को निबन्ध

[1] **'वाङ्मय-विमर्श'—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ७१।**

का पर्यायवाची नहीं कहना चाहिए। निबन्ध में सम्बद्धता के साथ-साथ आकार की संक्षिप्तता, प्रभावपूर्ण तथा मनोरञ्जक शैली को भी महत्व दिया जाता है।

निबन्धों का वर्गीकरण

निबन्धों का विभाजन विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है। कारण यह है कि निबन्ध का क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है। इसके अतिरिक्त निबन्ध लेखकों ने अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन अपनी व्यक्तिगत शैली के अनुसार, व्यापक विषयों पर विभिन्न दृष्टिकोण से किया है। इस प्रकार यह कहना कठिन सा हो जाता है कि निबन्ध कितने प्रकार के हो सकते हैं। किसी वस्तु की अनेक विधाओं का विभाजन उसके मुख्य गुणों अथवा तत्वों के आधार पर होता है। निबन्ध-रचना के प्रमुख तत्व, विषय और शैली ही हैं। अतएव इन तत्वों को ध्यान में रखकर निबन्धों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम विषय-वस्तु-प्रधान और द्वितीय शैली-प्रधान निबन्ध। विषय-वस्तु प्रधान निबन्ध में लेखक की दृष्टि विषय-वस्तु से ही अधिक सम्बद्ध रहती है, अभीष्ट विषय का वर्णन अथवा प्रतिपादन ही उसका प्रमुख लक्ष्य रहता है; परन्तु शैली-प्रधान निबन्धों में भाषा तथा व्यक्तित्व के प्रकाशन को अधिक महत्व दिया जाता है, प्रभावोत्पादन के लिए भाषा को सुचारु रूप से सजाना पड़ता है तथा बीच-बीच में आत्म-प्रकाशन की भी झलक मिल जाती है।

सामान्यतया विद्वानों ने निबन्धों को शैली के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है—१--वर्णनात्मक २—कथात्मक ३—भावात्मक और ४—विचारात्मक निबन्ध। वर्णनात्मक तथा कथात्मक निबन्धों में कल्पना-तत्व की प्रधानता रहती है परन्तु भावात्मक निबन्ध में रागात्मक-तत्व और विचारात्मक निबन्धों में बुद्धि-तत्व की प्रधानता रहती है। शैली-तत्व इन निबन्धों में सर्वथा विद्यमान रहता है। इन चार प्रकार के निबन्धों के सम्मिश्रण से अनेक प्रकार के निबन्धों का जन्म होता है। भावात्मक निबन्धों का प्रमुख लक्ष्य भावोद्रेक तथा रस-सञ्चार करना होता है। निबन्धकार अपनी भाव-धारा को भाषा के परिधान में इस प्रकार सजाकर रखता है कि वह पाठक के हृदय पर अधिक से अधिक प्रभाव डाल सके,और इस तरह वह कवि-कर्म के अत्यधिक निकट पहुँच जाता है। इन निबन्धों में तीन प्रकार की शैलियाँ पायी जाती हैं— धारा शैली, विक्षेप शैली तथा प्रलाप शैली। धारा शैली में भाव-धारा मन्थरगति से प्रवाहित होती रहती है, वाक्यांश नपे-तुले तथा समान होते हैं लेखक भावावेश में भाव के आरोह तथा अवरोह की ओर अधिक ध्यान नहीं

देता। विक्षेप शैली में निबन्धकार के भावों का प्रकाशन कहीं वेग से होता है तो अन्यत्र मन्दगति से। भावावेश में आकर लेखक अपने भावों को इस भाँति प्रकाशित करता है कि पाठक के हृदय में तरंगें सी उठने लगती हैं; इसीसे इसको तरंग शैली भी कहते हैं। प्रलाप शैली का प्रयोग भावावेश की उच्छृङ्खल अवस्था में होता है, लेखक भावों के प्रकाशन के लिए एक छटपटाहट का अनुभव करता है। ऐसे समय पर भाषा कुछ अव्यवस्थित सी होकर अपनी असमर्थता को प्रकट करने लगती है।

विचारात्मक निबन्धों में भावों की अपेक्षा मस्तिष्क से निकले हुए विचारों की ही प्रधानता रहती है। इनमें कभी किसी मनुष्य अथवा वस्तु के गुण-दोषों की विवेचना रहती है और कभी किसी सिद्धान्त आदि के प्रतिपादन में तर्क-वितर्क की योजना करनी पड़ती है। विचारात्मक निबन्धों में समास-शैली तथा व्यास-शैली प्रयुक्त होती हैं। समास-शैली में प्रत्येक वाक्यांश एक स्वतन्त्र विचार-खण्ड होता है, थोड़े में अधिक कह देना ही इसकी विशेषता है। कभी-कभी ऐसी शैली में लिखे गये निबन्धों में कोई-कोई वाक्य सूत्रवत् हो जाते हैं। इसके विपरीत व्यास शैली में निबन्धकार एक बात को सरल तथा स्पष्ट शब्दों में दुहराकर विषय को बोधगम्य बनाने में प्रयत्नशील रहता है।

वर्णनात्मक निबन्धों में वर्णनशैली को प्रयोग में लाया जाता है। प्राकृतिक अथवा मनुष्यकृत वस्तुओं का लेखक के हृदय पर जैसा प्रभाव पड़ता है उनका वैसा ही वर्णन करता है। इसमें वस्तु को अधिकतर स्थिर रूप में देखा जाता है। कथात्मक निबन्धों में विवरणशैली का प्रयोग किया जाता है। वर्ण्यवस्तु को 'वर्णनात्मक निबन्धों की भाँति स्थिररूप में न देखकर गतिशील रूप में देखा जाता है। श्री गुलाबराय के शब्दों में, 'वर्णनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध देश से रहता है और कथात्मक निबन्धों का काल से'[1], । वर्णनात्मक निबन्ध चित्रकला के अधिक निकट होता है परन्तु कथात्मक निबन्ध में चित्रपट के समान बदलते हुए सैकड़ों चित्र दृष्टि के सामने से निकल जाते हैं।

निबन्ध-रचना के अंग

निबन्ध की विभिन्न श्रेणियों के दिग्दर्शन के पश्चात निबन्ध के प्रमुख अंग हैं—१—शीर्षक, २—प्रस्तावना, ३—विस्तार और ४—परिणाम। शीर्षक के विषय में केवल यही कहना है कि इसमें निबन्ध का सम्पूर्ण भाव

[1] 'काव्य के रूप'—गुलाबराय, पृष्ठ २८८।

निहित रहता है। इसे स्वाभाविक, आकर्षक तथा अर्थपूर्ण होना चाहिए। प्रस्तावना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य सरल तथा प्रवाहयुक्त भाषा में सूक्ष्मरूप से प्रतिपाद्य विषय की ओर संकेत कर पाठक के मन को आकर्षित कर लेना होता है। डा० सूर्यकान्त शास्त्री के शब्दों में, 'निबन्ध के अग्रिम शब्द के लिए ही यह आवश्यक है कि वह पाठक पर ऐसा जादू खेल जाय जो उसके अन्तिम शब्द को पढ़ने तक उस पर सवार रहे[१]',। विस्तार निबन्ध का प्रमुख अंश होता है। विषय-प्रतिपादन तथा रस-परिपाक की दृष्टि से निबन्धकार की सफलता इसी अंश पर निर्भर करती है। इसमें एकता (Unity), अविरल यथाक्रमता (Continued order) तथा यौक्तिकक्रम (Logical sequence) की ओर लेखक का सदैव ध्यान रहना चाहिए। निबन्ध के अन्तिम अंश तक आने पर पाठक की जिज्ञासा शान्त हो जानी चाहिए। जिस प्रकार प्रस्तावना के द्वारा लेखक, पाठक को आकर्षित कर तथा आतङ्क जमाकर अपने विषय का समर्थन कर लेता है उसी प्रकार परिणाम द्वारा अपने सिद्धान्त तथा अनुमति को स्पष्ट कर पाठक के हृदय पर एक छाप-सी लगा देता है जिससे लेखक के विचारों तथा शैली की प्रशंसा करने के लिए पाठक बाध्य-सा हो जाता है।

निबन्ध का उद्देश्य

प्रत्येक मनुष्य अपने भावों तथा विचारों का प्रकाशन मौखिक रूप में अथवा लेखनी द्वारा कर दूसरों के पास तक पहुँचना चाहता है। मनुष्य लिखित ध्वनि-चिह्नों का सहारा तभी लेता है जब वह अपने विचारों तथा भावों को स्थायी रूप देना चाहता है, भावी सन्तति को एक आदेश अथवा शिक्षा देना चाहता है अथवा अपने विचारों को व्यापक और विस्तृतरूप देकर दूर तक फैलाना चाहता है। कहना न होगा कि इन कार्यों के लिए निबन्ध ही उपयुक्त माध्यम बनाया जा सकता है। निबन्धों के द्वारा ही हमारे स्थायी साहित्य के भवन का निर्माण होता है, हमारे विचारों को स्थैर्य मिलता है और हमारे भाव तथा विचार व्यापक और विस्तृत होकर सब लोगों तक पहुँचकर उन्हें लाभान्वित करते हैं। पाठक के मनोरञ्जन के साथ-साथ ज्ञान-विस्तार और रुचि-परिष्कार के लिए निबन्ध ही, साहित्य की अन्य विधाओं से, अधिक उपयुक्त साधन है।

---

१ 'साहित्य-मीमांसा', पृष्ठ ३०७।

दूसरा अध्याय

हिन्दी साहित्य में निबन्ध का विकास

मनुष्य के भाव-जगत की अभिव्यक्ति का प्रमुख साधन भाषा है। जिस प्रकार चित्र के लिए रेखाएँ और पटल तथा मूर्ति के लिए प्रस्तर की काट-छाँट अनिवार्य है उसी प्रकार भाषा के बिना साहित्य का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। साहित्य में भाषा के दो रूप—गद्य और पद्य—मान्य हैं। किसी भी साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि साहित्य में पद्यात्मक भाषा का ही सर्व प्रथम जन्म हुआ। ऐतिहासिकों का मत है कि आदि काल में मनुष्य में चिंतन-शक्ति की न्यूनता थी और वह अर्द्ध सभ्य अथवा असभ्य अवस्था में था। पद्य में कही हुई बात को वह सरलता से स्मरण रख सकता था। इसके अतिरिक्त लेखक को छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपने भावों के प्रकाशन का अवसर मिल जाता है। छन्द का माध्यम भावों को संगीतमय तथा स्मरण रखने में सुगम बनाकर मानव की मनस्तृप्ति का प्रमुख साधन बना देता है। इसीलिए पद्य को ही साहित्य में सर्वप्रथम स्थान मिला। परन्तु यह विचार भ्रमात्मक है। कौन कह सकता है कि वैदिक छन्दों के रचयिता सभ्यता और मस्तिष्क के विकास में पीछे थे?

गद्य का अपना अलग महत्व है। मनुष्य के विचारों को प्रकट करने का प्रमुख एवं सुगम माध्यम गद्य ही है। मनुष्य की वाणी पहले गद्य में ही प्रस्फुटित हुई होगी। परन्तु इतना होने पर भी साहित्य में उसका विधान पद्य के बाद हुआ। मनुष्य का झुकाव ज्यों-ज्यों भौतिकता की ओर अधिक होता जाता है पद्य के स्थान पर गद्य को प्रधानता मिलती जाती है। भौतिक सभ्यता की वृद्धि के कारण भावात्मक एवं आदर्श जगत की अवहेलना की जा रही है और इस तरह गद्य को पद्य की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाने लगा है। डा० श्यामसुन्दरदास के अनुसार, "गद्य, मनुष्य

के व्यावहारिक भाव-विनिमय का साधन होने के कारण, अधिक स्पष्ट और नीरस होने को बाध्य है। उसकी नित्यप्रति की उपयोगिता उसकी सुकुमार कला का उपहरण करके बदले में उसे एक दृढ़ता और पुष्ट शक्ति प्रदान करती है जिसका एक अलग महत्व है।"[१]

सारांश यह है कि सृष्टि के आदिकाल में मनुष्य की रागात्मक प्रवृति ही प्रबल रहती है और प्रकृति एवं संसार एक रहस्य से आवृत्त रहता है; अत: उस समय कविता ही उसकी मनस्तृप्ति का प्रमुख साधन बनकर अलौकिक आनन्द प्रदान करती रही होगी। परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य का समाज से सम्बन्ध अधिक दृढ़ होता गया और उसके मस्तिष्क के विकास के साथ-साथ भौतिकता से नाता जुड़ता गया, गद्य को प्रधानता मिलती गयी। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साहित्य के आदिकाल में मनुष्य में धार्मिक भावना की प्रबलता रही होगी, इसी से देवी-देवताओं की वन्दनाएँ पद्य में ही लिखी गयीं। तीसरा कारण भाषा की शिथिलता का है। भाषा की अभिव्यञ्जन शक्ति का जब तक पूर्ण विकास नहीं हो जाता, सभी प्रकार के भावों के व्यक्ति करने की उसमें क्षमता नहीं आ जाती, तब तक प्रौढ़ गद्य-साहित्य का सृजन होना असम्भव है।

हिन्दी का आधुनिक युग गद्य का युग कहा जाता है। परन्तु हिन्दी में गद्य-साहित्य का निर्माण पश्चिमी देशों के उन्नत साहित्यों की अपेक्षा बहुत वाद को हुआ। हिन्दी गद्य का पुराना इतिहास बहुत विशाल नहीं है। वैसे तो हिन्दी के आरम्भिक काल में लिखे हुए दो-एक पत्र पाये गये हैं, पर उन्हें साहित्य में स्थान नहीं दिया जा सकता। लाला सीताराम ने 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' को पहला महत्वपूर्ण गद्य-ग्रन्थ माना है[२]। मिश्रबन्धु अपने ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु-विनोद' में लिखते हैं—"सुरति मिश्र के वैताल-पचीसी का संस्कृत से ब्रजभाषा में अनुवाद संवत् १७०० के लगभग हुआ, इसके प्राय: सौ वर्ष बाद इन्हीं दोनों महाशयों ने (लल्लूलाल और सदल मिश्र) ग्रंथ लिखे, तभी वर्तमान हिन्दी गद्य की जड़ स्थिर हुई[३]।" प्रो० क्षितिमोहन सेन को दादू पन्थियों के अनेक गद्य-ग्रन्थों का पता चला है[४]। परन्तु अधिकतर

---

१ 'साहित्यालोचन'- श्यामसुन्दरदास, पृ. ६०

२ Modern Prose—लाला सीताराम, पृष्ठ ३२।

३ 'मिश्रबन्धु विनोद',—मिश्रबन्धु, पृष्ठ ८५३।

४ 'दादू उपक्रमणिका',—प्रो० क्षितिमोहन सेन पृष्ठ ४१।

विद्वान लल्लूलाल और सदल मिश्र को ही गद्य-प्रणाली का जन्मदाता मानते हैं[1]। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं, 'हिन्दी गद्य की पुरानी रचना जो थोड़ी सी मिलती है वह ब्रजभाषा में ही है। हिन्दी पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कई गोरख-पन्थी ग्रन्थ मिले हैं, जिनका निर्माणकाल संवत् १४०७ के आसपास है[2]।" इसके आगे उन्होंने लिखा है, 'जब अँगरेजों की ओर से पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई, उसके दो-एक वर्ष पहले ही मुंशी सदासुखलाल की ज्ञानोपदेश-वाली पुस्तक और इन्शा की 'रानी केतकी की कहानी' लिखी जा चुकी थी।.... फोर्ट विलियम के आश्रय में लल्लूलाल जी गुजराती ने खड़ी बोली के गद्य में 'प्रेमसागर' और 'सदल मिश्र' ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अतः खड़ी बोली गद्य को एक साथ आगे बढ़ानेवाले चार महानुभाव हुए हैं---मुंशी सदासुखलाल, सैयद इन्शाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। ये चारो लेखक सम्वत् १८६० के आस-पास हुए[3]।" यद्यपि आधुनिक विद्वानों की नवीन खोजों के आधार पर हिन्दी के प्राचीन गद्य के नमूने बहुत पीछे के मिलते हैं परन्तु इस बात पर विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं है कि हिन्दी गद्य का शृङ्खलाबद्ध तथा धारावाहिक रूप उक्त चार विद्वानों के समय से ही मिलता है।

हिन्दी में गद्य-साहित्य के निर्माण में इतना विलम्ब होने के अनेक कारण हैं। प्रथम कारण है साहित्य में भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं का प्रयोग। वीरगाथाकाल में राजस्थानी को साहित्य की भाषा बनाया गया तो भक्तिकाल में ब्रज और अवधी को। रीतिकाल में ब्रजभाषा ही साहित्य की भाषा बनी रही, परन्तु आधुनिक युग खड़ी बोली का है। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति का विकास न होकर उसमें प्रौढ़ता तथा सजीवता न आने पायी। फलस्वरूप गद्य की भी कोई भाषा निश्चित न हो सकी। इसका दूसरा कारण राष्ट्रिय भावना का अभाव है। भारतीय जनता प्रान्तीयता के चक्कर में इतनी बुरी तरह फँसी रही है कि उसका इस ओर ध्यान ही आकर्षित न हो सका। देश में धार्मिक विप्लवों तथा नरेशों के व्यक्तिगत झगड़ों से जनता को राष्ट्रियता का महत्व समझने का अवसर भी नहीं मिला।

---

[1] 'हिन्दी भाषा-सागर'—रामदास गौड़ और लाला भगवानदीन द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ५-६।

[2] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४०३।

[3] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४१७।

सम्राट अशोक के पश्चात देश की किसी भी भाषा को यह सौभाग्य न मिला कि वह राष्ट्रिय भाषा के पद पर प्रतिष्ठित होती। यहाँ के लोगों की अत्यधिक धर्मप्रियता ने भी गद्य के निर्माण में बाधा उपस्थित की। भारत की जनता को देश की अपेक्षा धर्म अधिक प्रिय था। साहित्य के अध्ययन में भी उसका दृष्टिकोण धार्मिक ही रहता था। ऐसे वायुमण्डल में जहाँ 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' की ध्वनि सुनायी दे रही हो, वहाँ गद्य लिखना तो दूर रहा, सांसारिक विषयों पर लिखना ही कठिन था। इन कारणों के अतिरिक्त हिन्दी का जन्म ही ऐसी स्थिति में होता है जब रणभेरी का तुमुलनाद और तलवारों की खपाखप ही चतुर्दिक सुनायी दे रही थी और अँगरेजी राज्य के स्थापित हो जाने तक लगभग ऐसी ही अवस्था रही। उस समय ऐसे साहित्य की आवश्यकता थी जो रणक्षेत्र में कड़खे का काम कर सके और निराश जनता को कर्तव्य-पथ से विमुख न होने दे। उस समय मुद्रण यन्त्रों का अभाव भी गद्य-साहित्य के विकास में बाधक स्वरूप ही रहा। सन् १८३७ ई० में दिल्ली में हिन्दी का पहला प्लीथोग्रैफिक प्रेस खुला तभी से भारतीय जनता मुद्रणकला से परिचित हो सकी।

हिन्दी गद्य-साहित्य का अविरल स्रोत अँगरेजी राज्य स्थापित हो जाने के बाद से ही देखने को मिलता है। इसके पहले विद्वानों का ध्यान गद्य-रचना की ओर अधिक नहीं गया था। अँगरेजों का भारत में पदार्पण केवल व्यापार के हेतु हुआ था परन्तु यहाँ की राजनीतिक अवस्था ने उन्हें एक विशाल साम्राज्य स्थापित करने का अवसर दिया। जब उनकी यह महत्वाकांक्षा फलवती होती हुई दिखायी दी तो उन्होंने अँगरेजी भाषा, संस्कृति एवं शिक्षाप्रणाली के प्रचार की ओर ध्यान दिया। संवत् १८८३ में लार्ड विलियम बेंटिङ्क के समय में अँगरेजी भाषा के प्रचार का लार्ड मैकाले द्वारा बड़े जोरों से समर्थन किया गया। यद्यपि संवत् १८५४ में सर चार्ल्स ग्रांट उड ने विलायत से एक योजना तैयार करके भेजी थी जिसमें हिन्दुस्तान की देशी भाषाओं में यहाँ के लोगों को शिक्षा देने के लिए अनुमति दी गयी थी, पर एक शताब्दी तक इसका पालन विस्तृत रूप से न हो सका। मैकाले ने संस्कृत तथा अन्य देशी भाषाओं की अत्यन्त ही ? निन्दा की और कहा कि जब तक भारतवर्ष में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार न होगा तबतक इन लोगों के हृदय में अँगरेजों के प्रति सहानुभूति नहीं हो सकती। परिणामस्वरूप अँगरेजी यहाँ की राजभाषा मान ली गयी और उसकी शिक्षा देने के लिए स्कूलों और कालेजों की स्थापना हुई। परन्तु जनता के सम्पर्क में आने पर उन्हें

देशी भाषाओं के सीखने की आवश्यकता का भी अनुभव होने लगा था। पद्य की भाषा को व्यावहारिक दृष्टि से असमर्थ समझकर गद्य-पुस्तकों की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही था, पर देशी भाषाओं में एक प्रकार से गद्य-साहित्य का अभाव था। अतएव जान गिलक्राइस्ट ने संवत् १८६० में गद्य की पुस्तकें तैयार करने की एक योजना बनायी। लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में ही हिन्दी गद्य के नमूने प्रस्तुत किये थे, इसका हम पहले उल्लेख कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने स्वान्तः सुखाय गद्य-साहित्य की रचना में योग दिया। इनमें सदा सुखलाल और इंशाअल्ला खाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस समय गद्य के रूप की प्रतिष्ठा तो हो गयी पर राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' के समय तक कोई भी महत्वपूर्ण लेखक गद्य के क्षेत्र में नहीं उतरा। गद्य के प्रतिष्ठित रूप को ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपनाया और गद्य का रूप स्थिर होने में बहुत कुछ सहयोग दिया। ईसाइयों के धर्म-प्रचार का विरोध करने के लिए स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना संवत् १६३२ में की। स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों के द्वारा हिन्दी-गद्य के स्वरूप को और निखारा। इनके अतिरिक्त श्रद्धाराम फुल्लौरी ने पौराणिक धर्म को प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया। इन विद्वानों द्वारा हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा हुई। धर्म-प्रचारकों के अतिरिक्त कुछ शिक्षा-प्रचारकों ने भी गद्य की रचना में योग दिया। इनमें राजा शिवप्रसाद और नवीनचन्द्रराय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

अतएव यह स्पष्ट है कि एक ओर अँगरेजी की शिक्षा के प्रचार का उद्योग हो रहा था तो दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दी साहित्य का भी प्रचार किया जा रहा था। पश्चिमी साहित्य के अध्ययन से भारतीय जनता के मस्तिष्क में नवीन भावनाएँ तथा आशाएँ जागरित हुईं। उन्हें अपने जातीय साहित्य में उन बातों का अभाव खटकने लगा जो अँगरेजी साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं। हिन्दी जनता भी इसका अपवाद न रही। हिन्दी के प्रतिभावान लेखकों ने शीघ्र ही अँगरेजी साहित्य के अनुकरण पर अपने साहित्य के विभिन्न अङ्गों की पूर्ति करना आरम्भ कर दिया। नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध सभी क्षेत्रों में, हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत अँगरेजी के अनुकरण पर, रचनाएँ प्रस्तुत की जाने लगीं।

निबन्ध के क्षेत्र में भारतीय विद्वान पश्चिमी साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित हुए। इसका मुख्य कारण यह था कि उनके साहित्य में इस प्रकार की

रचनाओं का बिल्कुल अभाव था। काव्य, नाटक, कथा-कहानी आदि तो हिन्दी वालों को संस्कृत से पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिल गये परन्तु निबन्ध के स्थान में 'निबन्ध' नाम के अतिरिक्त उन्हें कुछ न मिला। परन्तु अँगरेजी साहित्य में निबन्धों का सूत्रपात लार्डबेकन द्वारा सोलहवीं शताब्दी में ही हो गया था। हिन्दी निबन्ध साहित्य के परिचय से पूर्व अँगरेजी साहित्य में निबन्ध का विकास किस भाँति हुआ इस पर प्रकाश डाल देना आवश्यक प्रतीत होता है।

अँगरेजी साहित्य में निबन्ध का विकास

योरोप में निबन्ध का जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान मौण्टेन ही माना जाता है[१]। उसके निबन्धों का संग्रह सन् १५८० ई० में और एक विशेष संस्करण सन् १५९५ ई० में प्रकाशित हुआ था। इनका अँगरेजी में अनुवाद जान फ्लोरियो (John Florio q. v. 1603) और चार्ल्स काटन (Charles Cotton q. v. 1685) ने किया। मौण्टेन के निबन्धों पर वैयक्तिकता की पूरी छाप है। इन निबन्धों में लेखक की अपनी भावनाओं का ही प्रकाशन हुआ है। अँगरेजी निबन्ध के सर्वप्रथम लेखक फ्रांसिस बेकन का उदय एलिजाबेथ के शासन काल में हुआ था। बेकन के निबन्धों का संग्रह सन् १५९७ ई० में प्रथमबार प्रकाशित हुआ था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बेकन ने मौण्टेन के निबन्धों का अध्ययन फ्रेञ्च भाषा में किया होगा। परन्तु बेकन के निबन्धों की शैली उसकी निजी विशेषताओं से युक्त है। उसके निबन्धों में दार्शनिकता की छाप, विचारों का बाहुल्य और तार्किक विश्लेषण का आधिक्य है। उसके बहुत से वाक्य लोकोक्तियों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। परन्तु कहीं-कहीं उसमें अस्पष्टता सी आ जाती है[२] जो ठीक नहीं। सत्रहवीं शताब्दी के अन्य लेखकों ने अधिकतर बेकन को ही आदर्श मान कर उसके दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण किया। परन्तु कुछ लेखक ऐसे भी हुए हैं जिनके निबन्ध उनकी निजी विशेषताओं से युक्त हैं। इनमें से एब्राहम काउले और विलियम टेम्पल विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इन्होंने निबन्धों के विषय बेकन के विपरीत मूर्त्त-संसार में चुने जिससे इनके निबन्धों में सजीवता का समावेश अधिक हुआ। इन्होंने बेकन की तार्किक विश्लेषणात्मक शैली का अनुसरण न कर वर्णनात्मक शैली को ही अधिक अपनाया। अतएव सत्रहवीं

[१] The new Gresham Encyclopaedia, Vol. p. IV, 293.

[२] देखिए—The Oxford Companion to English Literature p.—55.

शताब्दी के अन्त तक दो प्रकार के निबन्धों की धूम थी—विचारात्मक और वर्णनात्मक जो अब भी महत्वपूर्ण शैलियाँ मानी जाती हैं।

द्वितीय उत्थान के लेखकों का साहित्य-गगन में उदय समाचार पत्र-पत्रिकाओं के मधुर कलरव के साथ हुआ। इनमें से एडीसन और स्टील का आविर्भाव अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। इस समय के समाचार पत्रों में 'दी टैटलर' और 'दी स्पेक्टेटर' से इन लेखकों का विशेष सम्बन्ध रहा। इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले निबन्ध लेखक जानसन और गोल्डस्मिथ प्रमुख हैं। इनकी रचनाएँ अधिकतर 'दी रैम्बलर' और 'दी आइडलर' में ही प्रकाशित होती रहीं। एडीसन के निबन्धों में स्टील से अधिक गम्भीरता तथा प्रभावात्मकता पायी जाती है। स्टील में स्वाभाविकता अधिक है। जानसन की शैली स्टील और एडीसन की अपेक्षा अधिक प्रयत्नपूर्ण और गम्भीर है। गोल्डस्मिथ के निबन्धों में हास्य का पुट अधिक रहता है। इन लेखकों ने अधिकतर सामाजिक विषयों पर ही लेखनी चलायी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के आते-आते निबन्धों में अनेक शैलियाँ प्रचलित हो गयी थीं। चार्ल्सलैम्ब के निबन्धों में आत्मकथा का पूर्ण समावेश है। उसे हम अँगरेजी का मौण्टेन कह सकते हैं। उसके निबन्धों में कल्पना तथा भावना का पूर्ण समावेश है। इसके अतिरिक्त अन्य लेखकों ने आलोचनात्मक शैली को विशेषरूप से अपनाया। इस प्रकार के लेखकों में मेथ्यूआर्नाल्ड, हैजलिट, डी क्वेंसी, मैकाले आदि मुख्य हैं। इनमें विचारों की प्रधानता होते हुए भी भावात्मकता का सन्निवेश यथेष्ट मात्रा में हुआ है जिससे रसात्मकता का अभाव नहीं मिलता। इसी समय 'एडिनवर्ग रिव्यू' (सन् १८२० ई०) और 'क्वार्टरली रिव्यू' (१८०६ ई०) ने धार्मिक, राजनीतिक एवं साहित्यिक आलोचना सम्बन्धी लेखों से अपने कलेवर को सम्पन्न किया। इन लेखकों के अतिरिक्त भावात्मक निबन्धों की रचना भी इस काल में करनेवाले लेखक विद्यमान थे। इमरसन तथा जान रस्किन के निबन्ध, इस क्षेत्र में विशेषरूप से महत्वपूर्ण हैं। जान रस्किन के निबन्धों में नैतिकता के साथ तार्किकता का पूर्ण सन्निवेश है। अमरीका निवासी इमरसन के निबन्धों में आध्यात्मिकता का पुट अधिक है। कार्लाइल ने अधिकतर आलोचनात्मक निबन्ध ही लिखे हैं, उसके विचार-हृदय की सूक्ष्म अनुभूतियों के साथ इस भाँति मिले रहते हैं कि पाठक स्वाभाविकरूप से प्रभावित हो जाता है। राबर्ट लुई स्टीवेन्सन भी इस समय के निबन्धकारों में विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसके निबन्धों की नींव अनुभूति

पर ही निर्धारित है, जिसमें साहित्यिकता का पुट देकर उसने अपनी एक विभिन्न शैली ही बना ली है।

वर्तमान युग के निबन्धकारों में जी० के० चेस्टरटन, एच० जी० वेल्स, राबर्टलीएड आदि उल्लेखनीय है। अँगरेजी निबन्ध साहित्य अब पूर्णतया विकसित हो चुका है। आज के निबन्धकार का यह प्रमुख उद्देश्य रहता है कि वह गूढ़ तथा गम्भीर विषयों को एक मार्मिक ढङ्ग से पाठक के सामने इस भाँति उपस्थित करे, जिससे वह अधिक से अधिक प्रभावित कर सके। निबन्ध में मानसिक अभ्यास के लिए लेखक को पर्याप्त क्षेत्र मिलता है। आधुनिक निबन्धों में पाठक को उपदेश देने की अथवा पाठक के मनोरञ्जन की छिछली प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती।

हिन्दी में निबन्ध का जन्म

भारतीय विद्वान् जब अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में आये तो उन्होंने वहाँ निबन्ध की विभिन्न शैलियों के विकसित रूप देखे। अँगरेजी साहित्य के इतिहास पर जब दृष्टिपात किया गया तो ज्ञात हुआ कि वहाँ निबन्ध रचना का प्रयोग सोलहवीं शताब्दी से हो रहा है। ऊपर हमने जो अँगरेजी निबन्ध-साहित्य के विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है उसका मूल उद्देश्य यही दिखलाना है कि निबन्ध की विभिन्न शैलियाँ किस प्रकार विकसित हुई और किस कला-नखले-निबन्ध भाँति प्रौढ़ता को प्राप्त हुई। विद्वानों ने हिन्दी साहित्य की दयनीय अवस्था को देखकर, उसके रिक्त अङ्गों की पूर्त्ति के लिए बीड़ा उठाया। अँगरेजी साहित्य में निबन्ध-रचना को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया जाता है; अतएव निबन्ध लिखने की ओर उनका ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। परन्तु हिन्दी-प्रेमियों ने जब इस ओर कुछ कार्य करना चाहा तो उन्हें हिन्दी भाषा का अनिश्चित और अव्यवस्थित रूप बहुत ही दुखदायी प्रतीत हुआ। इतना होने पर भी उन्होंने साहस और धैर्य के सम्बल को नहीं खोया और साहित्य के रचनात्मक कार्य की ओर तन, मन और धन से जुट गये।

हिन्दी-सेवियों ने एक हाथ से साहित्य की अभिवृद्धि करने का प्रयत्न किया तो दूसरे हाथ से भाषा के रूप को सँवारा। नाटक, उपन्यास, कहानी, जीवन-चरित्र, आलोचना, निबन्ध आदि गद्य के विभिन्न अङ्गों की रचना पश्चिमी साहित्य के अनुकरण पर होने लगी। यद्यपि इन विद्वानों को मूल प्रेरणा अँगरेजी साहित्य से मिली थी, परन्तु भारतीयता की रक्षा करने में वे सदैव दत्त-चित्त रहे।

मुद्रण-कला के आविष्कार और भारत में उसका प्रचार हो जाने से उन्हें इस कार्य में अत्यन्त सफलता मिली। हिन्दी में अब समाचार पत्र भी निकलने लगे थे जिससे भाषा की एक रूपता की ओर भी लोगों का ध्यान आकर्षित हो गया था। संवत् १८८३ में हिन्दी का पहला समाचार-पत्र 'उदंत मार्त्तंड' कानपुर निवासी पं० जुगलकिशोर के सम्पादकत्व में निकला[1], परन्तु यह शीघ्र ही बन्द हो गया। संवत् १९०२ में राजा शिवप्रसाद ने 'बनारस' अख़बार निकाला। इसकी भाषा में उर्दू का सा वाक्य विन्यास और फारसी तथा उर्दू के शब्दों की भरमार रहती थी। संवत् १९०७ में बाबू तारा मोहन आदि कई सज्जनों के उद्योग से 'सुधाकर' पत्र निकला। इस पत्र में हिन्दी शब्दों का ही अधिक प्रयोग होता था। संवत् १९०९ में सदा सुखलाल ने आगरे से 'बुद्धि प्रकाश' निकाला, संवत् १९१८ में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'प्रजाहितैषी', संवत् १९२० में ईसाई-धर्म-प्रचारक 'लोकमित्र', और संवत् १९२५ में भारतेन्दु के सम्पादकत्व में 'कविवचन-सुधा' निकली। 'कविवचन-सुधा' के बाद राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी में पत्रों की बाढ़ सी आ गयी। "उन में गद्य, पद्य, लेख, नाटक, प्रहसन, उपन्यास, इतिहास, जीवन-चरित्र आदि साहित्य, राजनीति, धर्म और समाज सम्बन्धी विषय रहते थे।"[2] अतएव हिन्दी में निबन्धों का सूत्रपात समाचार पत्रों द्वारा ही हुआ। इसके अतिरिक्त डा० रामविलास शर्मा अपने ग्रन्थ 'भारतेन्दु-युग' में लिखते हैं कि "भारतेन्दु-युग में पत्र-साहित्य ने जो उन्नति की, उससे निबन्ध रचना को विशेष प्रोत्साहन मिला।"[3] वास्तव में तत्कालीन विद्वानों ने अपने विचारों के प्रकाश की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अथवा पाठक के मनोरञ्जन के हेतु जो लेख पत्रिकाओं में लिखे हैं, उन्हीं में हिन्दी के आरम्भिक निबन्ध साहित्य के दर्शन मिलते हैं।

भारतेन्दु बाबू के समय से ही निबन्ध-रचना की परम्परा का आरम्भ माना जाता है।[4] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके समकालीन लेखकों ने, पाश्चात्य निबन्धों के स्वरूप के अनुसार अपने यहाँ भी निबन्ध साहित्य की रचना करनी आरम्भ कर दी। जिस प्रकार अँगरेजी साहित्य में निबन्ध की विभिन्न शैलियों को तथा उसके स्वरूपों को विकसित होने में समाचार पत्र-पत्रिकाओं ने योग दिया, उसी प्रकार हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं ने भी निबन्ध

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास–पं० रामचन्द्रशुक्ल पृ० ४२७।

[2] आधुनिक हिन्दी साहित्य—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० ६८।

[3] भारतेन्दु–युग–डा० रामविलासशर्मा, पृ० १५।

[4] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'–पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पृ० ७३०।

के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने में अपूर्व सहायता की। इन पत्र-पत्रिकाओं में निकलनेवाले लेख प्राय: राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, मातृभाषा-प्रचार सम्बन्धी विषयों पर हुआ करते थे। इन लेखों का विषय चाहे साहित्यिक रहा हो अथवा सामाजिक, लेखक का प्रमुख उद्देश्य पाठकों को देश की दशा से परिचित कराके प्राचीन रुढ़ियों का खण्डन कर नवीन विचारधारा में लाकर अवगाहन कराना होता था ।

सामान्यरूप से कालक्रम के अनुसार निबन्ध साहित्य के इतिहास को तीन विभिन्न युगों में बाँटा जा सकता हैं।

१ आरम्भिक काल—भारतेन्दु-युग (सन् १८६८ ई०—१९०२ ई०)
२ मध्यकाल—द्विवेदी-युग (सन् १९०३ ई०—१९२५ ई०)
३ आधुनिक काल (सन् १९२५ ई० से)

इस प्रकार का काल-विभाजन केवल सुविधा के लिए किया गया है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग निबन्ध के आविर्भाव का काल है। द्विवेदी-युग में निबन्धों के रूप में परिमार्जन हुआ; लालन-पालन के पश्चात शिक्षा और ताड़न का समय आया। आधुनिक युग में निबन्ध-रचना में प्रौढ़ता आ गयी है; वह अपने चरम उत्कर्ष के अत्यधिक निकट पहुँच गयी है।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युग गद्य का आरम्भिक काल था। इसलिए इस युग में प्रौढ़ता तथा गम्भीर्य की अपेक्षा लेखकों में सजीवता और जिन्द:दिली ही अधिक दृष्टि गोचर होती है। इस युग के प्रमुख निबन्धकारों में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पण्डित बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', अम्बिकादत्त व्यास विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। भारतेन्दु के अधिकांश निबन्ध 'हरिश्चन्द कला' भाग ४ में संग्रहीत हैं। इन निबन्धों में इनकी भाषा के दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रथम में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है परन्तु द्वितीय रूप में उर्दू-फारसी के शब्दों की भरमार है। अर्थ-स्पष्टता इनकी रचना का विशेष गुण है। अपने निबन्धों में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के व्यंग्यात्मक छींटे भी कहीं-कहीं छोड़े गये हैं। 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्न्द्र-चन्द्रिका,' 'बालबोधिनी' तथा अन्य सामयिक पत्र-पत्रिकायों में इनके निबन्ध प्राय: निकला करते थे। पण्डित बालकृष्ण भट्ट इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकारों में से हैं। इन्होंने भावात्मक तथा विचारात्मक,

दोनों प्रकार के निबन्ध प्रस्तुत किये। 'हिन्दी-प्रदीप' में इनके लेख निकला करते थे; जो उस समय के उच्चकोटि के साहित्यिक पत्रों में गिना जाता है। इनके निबन्धों के दो संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। 'साहित्यसुमन' में भट्टजी के 'हिन्दी-प्रदीप' में लिखे गये २५ चुटीले-लेखों का सङ्कलन है। दूसरी पुस्तक 'भट्ट-निबन्धावली' है, इसमें भट्टजो के ३२ भावात्मक निबन्धों का संग्रह किया गया है। इनकी भाषा संस्कृत-प्रधान, मुहावरों तथा लाक्षणिक प्रयोगों से युक्त है। 'उनके सभी प्रकार के लेख कहानियों जैसे मनोरञ्जक रहते थे।'[1] उनके निबन्धों में सर्वत्र रोचकता, सजीवता तथा सरसता के दर्शन होते हैं जो पाठक के मन को बरबस अपनी ओर खींच लेती है।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र विनोदपूर्ण शैली तथा निबन्धों में मनोरञ्जन की सामग्री जुटाने के लिए हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। इनके निबन्धों में व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। ये 'ब्राह्मण' पत्र का सम्पादन करते थे। इनके निबन्धों के तीन संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं—'निबन्ध नवनीत', 'प्रतापपीयूष' और 'प्रताप-समीक्षा'। इन्होंने अधिकांश भावात्मक निबन्ध ही लिखे हैं। भट्टजी में जहाँ साहित्यिकता, नागरिकता तथा गम्भीरता की ओर अधिक आग्रह है वहाँ मिश्र जी में चुहलपन, फक्कड़पन, विनोद और हास्य की ओर तथा इनकी भाषा में कहीं-कहीं ग्रामीण प्रयोग भी मिल जाते हैं। "बालकृष्णभट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने निबन्ध लिखकर हिन्दी गद्य-शैली को नवीन रूप दिया।"[2] इनके निबन्धों में छोटे तथा नपे-तुले वाक्य तथा व्यावहारिक भाषा का ही अधिक प्रयोग मिलता है।

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबन्ध 'आनन्द-कादम्बिनी' तथा 'नागरी-नीरद' नामक पत्रों में निकला करते थे। इनके निबन्धों का कोई सग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। भाषा के अनूठेपन की ओर इनका विशेष ध्यान रहता था। इनके वाक्य संस्कृत के तत्सम शब्दों से तथा अनुप्रासमयी पदावली की छटा से युक्त रहते थे। भाषा की सजावट इनकी अपनी विशेषता है। "वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले-लेखक थे।"[3] वास्तव में उनकी शैली में व्यक्तिगत विलक्षणता मिलती है जो इस युग के अन्य लेखकों में देखने को नहीं मिलती।

---

[1] 'भट्ट-निबन्धावली'—परिचय, पृ० ७।

[2] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, पृ० ६६।

[3] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'-पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४६१।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु अथवा प्रतापनारायण मिश्र की स्वाभाविकता और अर्थस्पष्टता की प्रवृत्ति इनके निबन्धों में देखने को नहीं मिलती।

पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के लेख 'वैष्णव-पत्रिका' और 'पियूष-प्रवाह' आदि पत्रों में निकला करते थे। ये सरल तथा मुहाविरेदार भाषा का प्रयोग अधिक उचित समझते थे। व्यास जी एक धर्म-प्रचारक के रूप में विशेष प्रसिद्ध हैं। उक्त निबन्धकारों के अतिरिक्त ठाकुर जगमोहनसिंह, लाला श्रीनिवासदास, पण्डित भीमसेन शर्मा, लाला काशीनाथ खत्री आदि लेखकों ने भी निबन्ध-रचना में योग दिया।

भारतेन्दु-युग के निबन्धों के भाव और विचार धारा के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहना है कि उस युग के लेखक एक नवीन मानव-धर्म का प्रचार करना चाहते थे जो सब ओर से उदार हो। उनकी प्रगति में जो अवरोधक शक्तियाँ थी उन पर तीखे व्यङ्ग्यों की बाण-वर्षा निबन्धों के माध्यम से की जाती थी। इसी से हम देखते हैं कि निबन्धों में व्यङ्ग्यात्मक शैली को अधिक अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त विषय-विस्तार की दृष्टि से भी जीवन तथा साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र से निबन्धों के विषय चुने गये। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, और सामयिक विषयों के अतिरिक्त स्थायी विषयों पर भी कुछ रचनाएँ मिलती हैं।

भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की विशेषताएँ

भारतेन्दु युग में निबन्ध-साहित्य का उदय किसी बाहरी प्रेरणा से नहीं हुआ, वरन् उसका जन्म परिस्थिति की आवश्यकताओं और हृदय की उमङ्ग से हुआ। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर ही लेखकों ने अपने भावोद्गारों तथा विचारों के प्रकाशन के लिए निबन्ध को अपनाया। आत्मीयता इस युग के निबन्धों की प्रमुख विशेषता है। तात्पर्य यह कि पाठक रचना द्वारा लेखक के इतना निकट आ जाता है कि वह किसी प्रकार का दुराव वा भेद का अनुभव नहीं करता है, वह लेखक के साथ तादात्मयता स्थापित कर लेता है और उसे अपना आत्मीय समझने लगता है। प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में यह विशेषता अपने उत्कर्ष को पहुँच गयी है।[१]

भारतेन्दु कालीन निबन्धों की दूसरी विशेषता है उनकी रोचकता तथा सजीवता। लेखक जनता के दैनिक अथवा सामाजिक जीवन से सम्ब-

[१] देखिए प्रतापनारायण मिश्र का 'आप', निबन्ध-नवीनता में संगृहीत, पृ. १

न्धित विषयों को ही अधिक चुनते थे। रोचक विषयों के साथ-साथ इनकी शैली में भी एक रोचकता तथा मनोहारिता का गुण सर्वत्र विद्यमान रहता है। विषय प्रतिपादन में वर्णनात्मक तथा भावात्मक शैली के सम्मिश्रण द्वारा ये लेखक पाठक के हृदय को सरलता से आकर्षित कर लेते थे। इसके अतिरिक्त वे सरल तथा स्वाभाविक भाषा का ही अधिक प्रयोग करते थे; मुहावरों तथा लोकोक्तियों के प्रयोग ने उनके इस कार्य में चार चाँद लगा दिये हैं।

भारतेन्दु-युग में निबन्ध रचना में साहित्य के पीछे राजनीतिक तथा सामाजिक सुधार की भावना विशेष रूप से निहित रहती थी। इस कार्य के प्रतिपादन में लेखकों ने निबन्धों में व्यङ्ग्यात्मक शैली को प्रमुख स्थान दिया है। राजनीति के क्षेत्र में दासता की कठोर जञ्जीरों से जकड़े हुए तथा समाज और धर्म के क्षेत्र में अत्यन्त रूढ़ि-ग्रसता ने लेखकों को ऐसी शैली अपनाने के लिए विवश कर दिया था। लेखक अपने विचारों को स्पष्ट शब्दों में न कह कर उन पर एक ऐसा आवरण डाल देते थे जो देखने में सरल तथा सहजग्राह्य, परन्तु हृदय को प्रभावित करने की अपूर्व क्षमता रखता था।

हिन्दी की गद्य-शैली को विकसित एवं परिमार्जित करने में, इस युग के निबन्ध-साहित्य ने अभूतपूर्व योग दिया भिन्न-भिन्न विषयों पर लेखनी उठा कर शब्द-कोश की वृद्धि और शब्दों का रूप स्थिर करने में इस युग के लेखकों ने अपूर्व कार्य किया। भारतेन्दु-युग आन्दोलन का युग था, राजनीति, समाज, धर्म, साहित्य सभी क्षेत्रों में आन्दोलनों की धूम मची हुई थी। विरोधियों को वश में करने के लिए खण्डन-मण्डन, बुद्धिवाद और तर्क का सहारा लिया गया, कभी-कभी हास्य और व्यङ्ग्य के छींटे कसने का प्रयत्न किया गया तो कभी अपने वश में करने के लिए उसके अन्त:करण को प्रभावित करने का उद्योग किया गया। इस कार्य से भाषा की विभिन्न शैलियों का विकास हुआ और उसमें गम्भीर तथा सूक्ष्म भावों के व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता आ गयी।

भारतेन्दु-काल में हमारा साहित्य प्राचीनता को लेकर नवीनता और विषयों की अनेक-रूपता की ओर अग्रसर हुआ। साहित्य-निर्माण का कार्य भी हो रहा था और साथ ही में उसके प्रचार के लिए भी प्रयत्न हो रहे थे। यदि यह कहा जाय कि उस युग के लेखकों का प्रमुख उद्देश्य, उच्च कोटि के साहित्य की रचना न होकर हिन्दी के प्रचार का था, तो असङ्गत न होगा। वे हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंङ्ग की पूर्त्ति के साथ-साथ लोगों के दिल पर हिन्दी का सिक्का जमाना चाहते थे। इसीलिए उस युग के लेखक कभी कविता की

ओर उन्मुख होते थे, कभी नाटक की ओर। उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि भी उनकी नजर के सामने पड़ जाने पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो जाते थे। लेखक को अवकाश नहीं था फिर कलात्मक साहित्य की रचना की ओर उनका अधिक ध्यान कैसे जाता। वह कभी हास्यात्मक लेख लिखता था तो कभी अपने निबन्ध में भारत की दुर्दशा का दुखड़ा रोता था। कभी समाज की रूढ़ि-प्रियता को देख कर व्यङ्ग्य कसता तो कभी हिन्दी की दयनीय अवस्था की ओर पाठकों के ध्यान को आकर्षित करने का प्रयत्न करता था। स्थायी विषयों पर बहुत कम निबन्ध लिखे गये। 'निबन्ध-नवनीत' की भूमिका में लिखा गया है "ब्राह्मण के ज़माने में हिन्दी की तरफ लोगों का ध्यान नया ही नया गया था। ········ हमने इस पत्र के पहले तीन साल के सब अङ्क देख डाले पर इतिहास, जीवन-चरित्र, विज्ञान, पुरातत्व अथवा और किसी मनोरञ्जक या लाभदायक शास्त्रीय विषय पर कोई अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का दोष कम था, समय का अधिक।"[१] यही बात उस समय के सभी पत्रों के विषय में कुछ सीमा तक ठीक कही जा सकती है। वास्तव में उस समय में उच्च कोटि के कलात्मक साहित्य के लिए पाठकों के मानसिक स्तर की बात तो दूर रही, पाठक ही नहीं मिलते थे। अतएव उस समय में यदि उच्चकोटि के निबन्ध अधिक संङ्ख्या में देखने को नहीं मिलते तो इसमें समय का ही दोष था लेखकों का कम।

भारतेन्दु के समय के निबन्धकारों पर प्रकाश डालते हुए डा० रामविलास शर्मा ने एक स्थान पर लिखा है कि "जितनी सफलता भारतेन्दु-युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली।"[२] बात कुछ हद तक ठीक है यदि ठीक तरह से समझी जाय। निबन्ध-रचना में व्यक्तित्व-प्रकाशन परम आवश्यक समझा जाता है जो इस युग के सभी लेखकों में विद्यमान है। उनके निबन्धों में आत्मीयता के भी दर्शन मिलते हैं जो उस युग के निबन्धों की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। परन्तु कहना पड़ता है कि उस युग में निबन्धकला का पूर्ण विकास न हो सका। लेखकों का मुख्य उद्देश्य साहित्य के रिक्त अङ्गों की पूर्त्ति करना रहता था तथा हिन्दी के पाठक उत्पन्न करना ही उनका प्रमुख लक्ष्य रहता था। उस काल के लेखकों ने निबन्ध को एक ऐसा माध्यम बनाया जिसके द्वारा दूसरों को खरी-खोटी सुना कर अपने मन को शान्ति देते थे। उस समय तो खड़ी

---

१ 'निबन्ध-नवनीत'-भूमिका, पृ० ५-६

२ 'भारतेन्दु-युग'-डा० रामविलास शर्मा, पृ० ६५

बोली के गद्य को प्रतिष्ठित करने में ही लेखक अपनी समस्त शक्ति का व्यय कर रहे थे, गद्य के साहित्यिक रूप का प्रश्न तो बहुत देर में आता है और निबन्ध को तो विद्वानों ने गद्य की कसौटी माना है। निबन्धों के आधार पर ही भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति की परख की जाती है। अतएव भाषा के उस अनिश्चित काल में उच्च कोटि के निबन्धों की आशा करना ठीक नहीं; वह समय हिन्दी गद्य का आरम्भिक युग था, जो कुछ भी निबन्ध-साहित्य जिस रूप में मिलता है उसी से सन्तोष करना चाहिए।

द्विवेदी-युग

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का साहित्य के प्राङ्गण में पदार्पण करने से हिन्दी का भाग्य जगा। सरस्वती की सेवा के लिए 'सरस्वती' का साधन प्राप्त कर द्विवेदी जी ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उनके प्रयत्न एवं प्रोत्साहन से सैकड़ों लेखकों ने भी चिर-उपेक्षिता हिन्दी की ओर दृष्टिपात किया। विभिन्न विषयों पर उनकी लेखनी चली और साहित्य के विभिन्न अङ्गों के उदाहरण प्रस्तुत किये। निबन्ध के क्षेत्र में भी उच्चकोटि की रचनाओं का सृजन हुआ। इस युग के प्रमुख निबन्ध लेखक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, गोपालराम गहमरी, मिश्रबन्धु, सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्यामसुन्दरदास, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, कृष्णबिहारी मिश्र गुलाबराय आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी एक निबन्धकार के रूप में अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं जितने कि भाषा को शुद्ध और व्याकरणसम्मत बनाने में। वे भाषा-सुधारक तथा आलोचक के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित हैं। इनके निबन्धों की अर्थस्पष्टता और बोधगम्यता ही प्रमुख विशेषताएँ हैं। लिखने की सफलता वे इसी बात में मानते थे कि कठिन से कठिन विषय को ऐसे सरल ढङ्ग से रख दिया जाय कि पाठक उसको सहज ही में हृदयङ्गम कर सके। इनके निबन्धों में व्यास शैली और व्यावहारिक भाषा को ही अधिक स्थान दिया गया है। उनके वाक्य नपे-तुले और आकार में छोटे होते थे। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र समास-प्रधान तथा अनुप्रासमय गद्य लिखने के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। 'कवि और चित्रकार' लेख में इन्होंने इस शैली को अपनाया है जिसको संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य लिखने के लिए बाण और दण्डी ने अपनाया था। इनके निबन्धों का एक सङ्ग्रह 'गोविन्द-निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

बाबू बालमुकुन्दगुप्त हिन्दी में उर्दू की मुहावरेदानी और चुहलबाजी को लेकर आये। वे हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं के अच्छे लेखक थे। 'भारतमित्र' में इनके अधिकांश लेख छपा करते थे। विनोद की मात्रा गुप्त जी के लेखों में विशेष रूप से रहती थी, 'शिवशम्भु का चिट्ठा' में ऐसे ही लेखों का सङ्ग्रह है। इनकी भाषा प्रवाहमयी, सजीव और मुहावरेदार होती थी। इनके निबन्धों का सङ्ग्रह 'गुप्त' निबन्धावली' के नाम से प्रकाशित हुआ है।

पण्डित माधवप्रसाद मिश्र भी द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ निबन्धकारों में से हैं। इन्होंने 'सुदर्शन' नामका पत्र भी निकाला था जिसमें इनके साहित्यिक लेख अधिकतर निकला करते थे। ये अधिकतर जोश में आकर निबन्ध लिखा करते थे जिससे इनकी शैली गम्भीर और ओजमयी है। भारतेन्दु-युग में पर्व-त्योहार, उत्सव, तीर्थस्थान आदि पर मार्मिक लेख निकला करते थे, ऐसे निबन्धों की परम्परा में इन्होंने यथाशक्ति योग दिया। इनकी भाषा-शैली में यद्यपि संस्कृत शब्द-विन्यास की अधिकता है किन्तु प्रवाह और माधुर्य में विशृङ्खलता नहीं दिखायी देती। मिश्र जी के निबन्धों का 'माधव मिश्र निबन्धमाला' में सङ्ग्रह किया गया है।

गोपालराम गहमरी हिन्दी साहित्य में उपन्यासकार के नाम से ही विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं; अवसर मिलने पर कुछ लेख तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने के लिये भी लिख दिया करते थे। इन्होंने भावात्मक निबन्ध ही अधिकतर लिखे हैं। उनके लेखों की भाषा का साहित्यिक महत्व संस्कृत-प्राय शब्दावली के कारण नहीं है, वरन् प्रसाद-गुण सम्पन्न होने के नाते से है। उन्होंने संस्कृत के शब्दों को छोड़ कर, उर्दू या ठेठ देहाती जहाँ कहीं उन्हें उपयुक्त शब्द मिल सके हैं, लाकर अपनी रचनाओं में सँजोया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में "विलक्षण रूप खड़ा करना उनके निबन्धों की विशेषता है।"[१] ये अपने पाठक को भिन्न-भिन्न भावों में मग्न करना खूब जानते हैं। कभी-कभी चमत्कार की प्रवृत्ति भी इनमें देखने को मिलती है परन्तु इतनी नहीं कि पाठक मुख्य विषय से भटक जाय।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी संसार में साहित्यिक समालोचकों के रूप में प्रवेश किया था। इनकी गम्भीर लेखन-प्रणाली में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग मिलता है। उर्दू मिश्रित भाषा के प्रयोग के ये पक्ष में अधिक नहीं है, परन्तु विषय के अनुरूप भाषा-व्यवहार के आप पूर्ण पक्षपाती हैं। इनके लेख तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित हुआ करते थे।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास-पण्डित रामचन्द्र शुक्ल पृ० ५१४।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा के स्थापन काल से हिन्दी भाषा, कवियों आदि के खोज-विषयक लेखों को ही अधिक लिखा है। हिन्दी के आरम्भिक काल में कथा-कहानी आदि विषयों पर विशेष रूप से रचना हो रही थी और उसी के अनुरुप भाषा का भी प्रयोग होता था किन्तु श्यामसुन्दरदास ने अपने लिये गम्भीर विषयों को ही अधिक चुना जिसमें उनकी शैलीभी गम्भीर हो गयी है। विषय को स्पष्ट तथा बोधगम्य बनाने की ओर अधिक ध्यान रहने से इन्होंने व्यास-शैली को ही अधिक अपनाया है। साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में काफी अन्तर रखना उनका प्रमुख सिद्धान्त है।

चन्द्रधरगुलेरी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान तथा अँगरेजी की उच्च शिक्षा से युक्त व्यक्ति थे। इन्होंने 'समालोचक' पत्र का सम्पादन भी किया था। इनके अधिकांश लेखों में व्यक्तित्व की स्पष्ट झलक मिलती है। इनकी शैली में एक विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता मिलती है जो इस युग के अन्य लेखकों में देखने को नहीं मिलती। अध्यापक पूर्णसिंह ने थोड़े ही भावात्मक निबन्ध लिखे हैं जो 'सरस्वती' के तत्कालीन कक्षों में देखने को मिल जाते हैं। द्विवेदी युग में उनके जोड़ का भावात्मक निबन्ध लिखनेवाला अन्य कोई लेखक नहीं मिलता। उनके सभी लेखों में शब्द-चयन का चमत्कार, भाव-व्यञ्जना की मार्मिकता तथा भाषा की लाक्षणिकता उल्लेखनीय है। हास्य-विनोद-पूर्ण लेख लिखने वालों में पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा। इनके लेखों के दो सङ्ग्रह प्रकाशित हो चुके हैं 'गद्य-माला' और 'निबन्ध-निचय'। भाषा की सजीवता तथा रोचकता ही इनके निबन्धों को प्रिय बनाने में समर्थ है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में निबन्धकला अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गवी है। वस्तुतः निबन्ध के क्षेत्र में इनके पदार्पण से एक नया जीवन आ गया। अँगरेजी साहित्य में रस्किन तथा बेकन को उनकी गम्भीरता तथा दर्शनिकता के कारण जो स्थान प्राप्त हैं, हिन्दी साहित्य में शुक्ल जी भी उसी स्थान के अधिकारी हैं। शुक्ल जी के लेख-सङ्ग्रह 'विचार-वीथी', 'चिन्तामणि' तथा 'त्रिवेणी' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। आलोचनात्मक निबन्ध शुक्ल जी के पहले बहुत कम लिखे जाते थे और जो लिखे भी गये वे प्राय शिथिल होते थे। ऐसे निबन्धों में लेखक के गम्भीर अध्ययन तथा उसकी क्रान्तदर्शिता की स्पष्ट झलक मिलती है। शुक्ल जी की शब्दावली संस्कृत तत्सम शब्दों से

ही युक्त है। शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे हैं, परन्तु हास्य और व्यङ्ग्य के पुट ने उसमें रूक्षता नहीं आने दी है।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक आलोचना के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं; उन्होंने निबन्ध भी लिखे हैं जो 'प्रेम-पराग' में संकलित किये गये हैं। शर्मा जी की भाषा में संस्कृत, फारसी तथा अँगरेजी के शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। किसी-किसी निबन्ध में उर्दू के शैर और संस्कृत के श्लोकों का इतना प्रयोग हो गया है कि साधारण पाठक उनसे लाभ ही नहीं उठा सकता। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र भी इस युग के प्रमुख निबन्ध लेखकों में से हैं। इनकी तुलनात्मक-आलोचनाएँ हिन्दी जगत की अमूल्य निधि हैं। तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में इनके लेख प्रकाशित हुआ करते थे। 'साहित्य' समालोचक (गंधौली) पत्र का इन्होंने सम्पादन भी किया था। इनके निबन्धों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, परन्तु क्लिष्टता कहीं भी नहीं आने पायी है। श्री गुलाबरायजी के भी निबन्ध साहित्य एवं समालोचना की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। आपके निबन्धों में दार्शनिकता की छाप लगी रहती है। इनकी भाषा में गम्भीरता तथा प्रौढ़ता देखने को विशेष रूप से मिलती है। इन लेखकों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में बहुत से लेखकों ने निबन्ध-रचना में योग दिया और जिनके लेख तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में देखने को मिल सकते हैं। इनमें से पण्डित गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री, माधवराव सप्रे, सत्यदेव, गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, काशीप्रसाद जायसवाल, बालाप्रसाद शर्मा, लक्ष्मण गोविन्द आठले, सन्तराम, लक्ष्मीधर बाजपेयी, जनार्दन भट्ट, हनुमानप्रसाद पोद्दार, बदरीनाथ भट्ट आदि लेखक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युगीन निबन्धों की विशेषताएँ

द्विवेदी-युग में हिन्दी निबन्धों का क्रमिक विकास देखने को मिलता है; पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साधारण पाठक के लिए लिखे गये निबन्धों से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध देखने को मिलते हैं। यदि द्विवेदी जी के निबन्ध बातों के संग्रह[1] के रूप में देखने को मिलते हैं तो आचार्य शुक्ल के निबन्धों में दार्शनिक की भाँति गूढ़ एवं सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति मिलती है। पण्डित माधवप्रसाद मिश्र के सामान्य भावात्मक निबन्धों की यदि एक ओर रचना हुई है तो दूसरी

---

१ 'देखिए-हिन्दी साहित्य का इतिहास', पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५०८

ओर वियोगीहरि, राय कृष्णदास के काव्यात्मक निबन्धों के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं। डा० श्री कृष्णलाल के शब्दों में, 'हिन्दी में निबन्धों का चरम विकास गद्य-गीतों में ही मिलता है'।[1] वास्तव में द्विवेदी-युग निबन्ध-रचना की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

द्विवेदी-युग के लेखकों ने जीवन और साहित्य के सभी क्षेत्रों से निबन्धों के विषय चुने। यदि एक ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक भावनाओं को निबन्धों में प्रश्रय मिला तो दूसरी ओर साहित्य के विभिन्न अङ्गों की विवेचना उपस्थित करने के लिए भी निबन्धों की रचना हुई जिसका उल्लेख आगे किया जायगा[2]। लेखकों ने कभी भौतिक जगत के मूर्त पदार्थों को निबन्ध का विषय बनाया तो कभी मनोविज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म भावों पर निबन्ध प्रस्तुत किये गये। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। वास्तव में स्थायी और सामयिक तथा सामान्य और विशेष सभी प्रकार के विषयों पर निबन्धों की रचनाएँ प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इस युग के निबन्धकारों में मिलती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी की गद्य-शैलियों का विकास निबन्धों द्वारा ही हुआ। हिन्दी-निबन्ध-साहित्य का इतिहास हिन्दी की गद्य-शैलियों के विकास का इतिहास है। द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य इस इतिहास की एक कड़ी है और उसका विशेष महत्व है। व्यक्ति-प्रधान और विषय-प्रधान शैलियों के अलग-अलग उदाहरण इस युग के लेखकों ने निबन्धों के द्वारा प्रस्तुत किये हैं। निबन्धों की शक्ति का यहाँ तक विकास हुआ कि उसमें कथा, उपदेश, व्याख्यान तथा आलोचना के तत्वों का समावेश हुआ[3] और इस तरह निबन्ध-कला में एक महत्वपूर्ण विकास देखने को मिलता है। भारतीय साहित्य में कला को सदैव महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। साहित्य के किसी भी अङ्ग को भारतीय विद्वान कला से रहित नहीं देखना चाहता है; द्विवेदी-युग में निबन्धों के विषय में यही बात हुई। परिणामस्वरूप निबन्धों में कलात्मक सौन्दर्य भी कहीं कहीं देखने को मिलता है।

द्विवेदी-युग के निबन्धों का उद्देश्य केवल मनोरञ्जन अथवा चमत्कार-प्रदर्शन न होकर, पाठक-वर्ग का ज्ञान-सम्वर्द्धन तथा रुचि-परिष्कार भी रहा है।

---

[1] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—डा० श्री कृष्णलाल, पृ० ३२६

[2] देखिए—'निबन्धों की भाव और विचार-धारा' तथा 'निबन्धों के प्रकार' शीर्षक अध्याय।

[3] देखिए—'निबन्धों की शैली' शीर्षक अध्याय।

ज्ञान-विस्तार की प्रेरणा के वशीभूत होकर ऐतिहासिक, पुरातत्वविषयक, आलोचनात्मक निबन्धों का श्री गणेश इसी युग में हुआ। रुचि-परिष्कार को अत्यधिक अपनाने से लेखकों में उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रबल हो उठी जिससे इन निबन्धों में कहीं-कहीं हृदय की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करनेवाली सजीवता का अभाव सा मिलता है। परन्तु उस युग के निबन्धकारों को अपने उद्देश्य में अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई, अतएव उनकी महत्ता उसी में है।

भारतेन्दु-युग के निबन्धों में लेखक एक ही निबन्ध में विषय से सम्बन्धित समस्त भावों तथा विचारों के प्रकाशन के प्रबल झोंके में स्वयं भूल सा जाता है। सावधान होने के स्थान में लेखक अपने भावों और विचारों की एक प्रबल वेगधारा प्रवाहित कर, सबकुछ कह डालने के चक्कर में पड़ जाता है। निबन्ध के अन्त में पाठक को सम्बोधित करके तथा उपदेश देकर येन-केन-प्रकारेण किनारे आ लगता है। परन्तु द्विवेदी-युग का निबन्ध-कार अपनी शक्ति से परिचित होकर, समय के सम्बल को लेकर साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करता है। पाठकों को उद्बोधन एवं अनुकूल मार्ग की ओर सङ्केत कर, दिलपर चोट कर धीरे से अपने स्थान को लौट जाता है। यही कारण है कि भारतेन्दु-युग में भावात्मक एवं कल्पनात्मक निबन्धों की प्रधानता रही है जबकि द्विवेदी-युग में विचारात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे गये। इसके अतिरिक्त द्विवेदी-युग में निवन्ध को 'एकतानता' प्रदान की गयी और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान किया गया।

इतना होने पर भी द्विवेदी-युगीन निबन्ध-साहित्य के कुछ अभाव खटकते अवश्य हैं जिनका उल्लेख करना आवश्यक है। इस समय ललित निबन्धों का एक प्रकार से अभाव सा रहा। साहित्य में उपयोगितावाद को ही अधिक महत्व दिया गया। अतएव कलात्मक निवन्धों की रचना की ओर लेखकों का ध्यान अधिक न जा सका। परन्तु जो कुछ भी कलात्मक साहित्य आज हमें प्राप्त हो रहा है उसका बीज-वपन द्विवेदी जी के समय में ही हो चुका था। दूसरे, इस युग के निबन्धों में एक तरह से सजीवता का अभाव है। उपदेशात्मक वृत्ति को यहाँ तक अपनाया गया कि निबन्धों में नीरसता सी आजाती है और पाठक का जी ऊबने से लगता है। भारतेन्दु-युग के निबन्धों में आत्मीयता तथा पाठक के हृदय को मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक प्रभावित करने की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, वह भी इस युग के निबन्धों में देखने को अधिक नहीं मिलती। इसका मुख्य कारण है लक्ष्य तथा साधन में भिन्नता। भारतेन्दु-युग का लेखक पाठक की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित तथा हृदय को प्रभावित कर अपने साथ चलने को विवश करता है; परन्तु द्विवेदी-कालीन लेखक पाठक के मस्तिष्क

को अपनी ज्ञान-गारिमा से प्रभावित कर उपदेशक के रूप में आकर, समान विचारधारा में प्रवाहित कर अपने साथ ले जाना चाहता है। भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों का मनोरञ्जन तथा विरोधियों को जली-कटी सुनाने का रहा है; परन्तु द्विवेदी-युगीन निबन्धकार का प्रमुख उद्देश्य पाठक के ज्ञान- विस्तार तथा रुचि-परिष्कार की ओर रहा है। इन अभावों के होते हुए भी द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य अपने प्रतिष्ठित आसन से गिर नहीं सकता। हिन्दी-साहित्य के विषय-विस्तार के साथ-साथ भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति का जो विकास हुआ, उसका बहुत कुछ श्रेय इस युग के निबन्ध-साहित्य को ही देना पड़ेगा।

आधुनिक युग

आधुनिक युग का निबन्ध-साहित्य विषय तथा शैली की दृष्टि से अपनी पराकाष्ठा के समीप पहुँच गया है। इस युग के प्रमुख लेखकों में सर्वश्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, महाराज कुमार डा० रघुवीरसिंह, पण्डित सदगुरुशरण अवस्थी, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र, सत्येन्द्र, रामकृष्ण शुक्ल आदि उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने अधिकांश में साहित्यिक और आलोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने की प्रवृत्ति आधुनिक युग में अधिक नहीं मिलती। इन विषयों पर जो निबन्ध लिखे जाते हैं उनमें विषय-प्रतिपादन की ओर ही अधिक ध्यान रहता है जिससे उनमें साहित्यकता का अभाव मिलता है। वस्तुतः साहित्य-विषयक लेख ही साहित्यिक नहीं होते वरन् साहित्यिक ढंग से लिखे हुए विज्ञान-विषयक लेख भी साहित्यिक लेखों की कोटि में आ जाते हैं।

आधुनिक युग में काव्यात्मक गद्य ने निबन्ध के क्षेत्र में एक क्रान्ति सी मचा दी है। ललित निबन्धों में विषय तथा व्यक्तित्व का अपूर्व समन्वय इस युग की अपनी विशेषता है। आज निबन्धों में भावों तथा विचारों को कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। आधुनिक युग में विविध विषयों पर उच्च कोटि के निबन्ध प्रस्तुत किये जाते हैं। इस युग के निबन्ध-साहित्य की श्री-सम्पन्नता देखकर हिन्दी के उज्ज्वल तथा गौरवपूर्ण भविष्य का अनुमान सहज ही किया जा सकता है; फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि भारतेन्दु-युगीन निबन्ध की स्वच्छन्द, चित्ताकर्षक, मनोरञ्जक एवं विनोदपूर्ण धारा का प्रवाह धीरे-धीरे सूखता ही गया और आज भी वह अधिक गतिवान नहीं है।

तीसरा अध्याय

द्विवेदी-युगीन निबन्धों की भाव और विचारधारा

साहित्य, समाज और व्यक्ति की भावनाओं, आकाक्षाओं, अनुभूतियों तथा विचारों का अद्भुत सम्मिश्रण है। व्यक्ति समाज का अङ्ग है; अतएव साहित्य को समाज का दर्पण कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें समाज के हृदयगत भावों तथा विचारों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। किसी भी जाति के साहित्य की सत्समालोचना से उस की प्रवृत्तियों की झलक एवं गतिविधि का सङ्केत सरलता से देखा जा सकता है। समाज किसी समय पर जिस भाव एवं चेतना से परिपूर्ण अथवा परिप्लुत रहता है उसका प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर अवश्य पड़ता है। उसकी प्रवृत्तियों का मूल उद्‌गम, विकास एवं परिणाम साहित्य में स्पष्ट परिलक्षित होता है। हिन्दी साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। वीरगाथा-काल में रणभेरी के तुमुल नाद के साथ हमें कवियों की गर्जन एवं प्रोत्साहन भरी उक्तियाँ देखने को मिलती हैं। भक्तिकाल में सांसारिक गोरखधन्धों से अलग रहनेवाले, अपने आराध्य की ओर उन्मुख भक्त के हृदय का आर्तनाद सुनायी पड़ता है। रीतिकाल के आते-आते निराशा से युक्त हो, विलास का आश्रय ग्रहण कर, कविता-कामिनी अपने नूपुर-ध्वनि की मधुर झङ्कार से समस्त वायु मण्डल को स्निग्ध कर देती है। आधुनिक साहित्य में अँगरेजी राज्य के कठोर पञ्जों में जकड़े हुए, समाज के निस्तार के लिए एक छटपटाहट का आभास मिलता है। परन्तु साहित्य व्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं कर सकता; उसमें व्यक्ति का समाज की स्वीकृत तथा निर्णीत धारणाओं के प्रति विद्रोह और विरोध भी अङ्कित रहता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति समाज की रूढ़ियों के प्रति कोरा विद्रोह अथवा विरोध ही नहीं करते, वे एक नवीन पथ का प्रदर्शन कर उसे अनुसरण करने की प्रेरणा भी देते हैं। इन सबका स्पष्ट आभास यदि कहीं देखने को मिलता है तो केवल साहित्य में ही। ऐसा

साहित्य वर्तमान से भविष्य की ओर अधिक उन्मुख रहता है[1]। वास्तव में ऐसे साहित्य का सृजन समाज के नेतृत्व के लिए ही होता है। अतएव साहित्य और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध चिरन्तन सत्य है। साहित्य में लेखक की आत्मा की पुकार के साथ उसके युग की पुकार भी देखने को मिलती है जिससे हम सहज ही लेखक के युग की विचार-धारा से परिचित हो जाते हैं।

परिस्थितियों से प्रभावित होकर मनुष्य के हृदय में जो भावनाएँ और कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं उनका अङ्कन साहित्य में अनिवार्य होता है। देश की नवीन परिस्थितियों ने आधुनिक युग में स्वतन्त्रता, देश-प्रेम तथा समाज-सुधार की भावनाओं को जन्म दिया जिससे साहित्यकारों को नवीन विषय उपलब्ध हुए और जिनको उन्होंने अपनी रचनाओं का आधार बनाया। हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग गद्य-युग के नाम से अभिहित किया जाता है। गद्य-साहित्य में निबन्ध पर ही अधिक बल दिया जाता है। वास्तव में निबन्ध ही एक ऐसी साहित्य-विद्या है जिसमें साहित्यकार अपने तथा समाजगत भावों और विचारों का प्रकाशन स्वच्छन्दतापूर्वक कर सकता है। द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य में तत्कालीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर, प्रचलित प्रवृतियों में सुधार एवं सहयोग, अधोगामी रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा उज्ज्वल भविष्य की ओर सङ्केत आदि भावनाओं का प्रकाशन भली भाँति देखने को मिलता है। किसी युग की भाव और विचार-धारा उस युग के साहित्य में देखने के पहले यह आवश्यक है कि तत्कालीन परिस्थितियों तथा प्रचलित प्रवृत्तियों का ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय।

राजनीतिक परिस्थिति

सन् १८५७ का विद्रोह भाई से भाई का गला कटवा कर ही मिटाया गया था। परन्तु अँगरेजों में इस बात की आशङ्का अवश्य उत्पन्न हो गयी थी कि यदि भारतीयों में सङ्गठन के साथ राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हो गयी तो उनपर शासन करना कठिन हो जायगा[2]। पहली नवम्बर सन् १८५८ को महारानी विक्टोरिया की घोषणा प्रकाशित की गयी जिससे भारतीयों को कुछ आश्वासन मिला। सन् १८६१ और १८६२ के कौंसिल ऐक्टों में शासितों को भी शासन के कार्य में सहयोग देने का अवसर दिया गया। भारतीयों में शिक्षा का प्रचार और आने-जाने की सुविधाएँ, धर्म में हस्तक्षेप न करने की राज्य की

[1] 'जैनेन्द्र के विचार' पृ० १८.

[2] 'The Expansion of England' by Seely, p. 233;

ओर से घोषणा आदि कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे भारतीयों के हृदय में अँग-रेजी राज्य के प्रति श्रद्धा की भावना उदय हुई जो धीरे-धीरे राजभक्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी।

अँगरेजी राज्य ने भारत में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की ओर अधिक ध्यान दिया, पर शासक-वर्ग के कुछ कार्य-कलाप से, भारतीयों के हृदय में उनके प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया और जिसने आगे चलकर राष्ट्रिय चेतना का रूप धारण कर लिया। अँगरेजी सैनिकों की संख्या में दिन प्रतिदिन वृद्धि, भारतीयों का निःशस्त्रीकरण, भारतीय प्रेस एक्ट, इलबर्ट बिल में भारतीयों तथा अँगरेजों में न्याय सम्बन्धी भेद-भाव, शाही उपाधि ऐक्ट[१], आयातकर की नीति, सरकारी नौकरियों में भेद-भाव आदि कुछ ऐसी घटनाएँ थीं जिनसे भारतीयों के आत्म-सम्मान को आघात लगा और अँगरेजों के प्रति अविश्वास की भावना दृढ़ हो चली जो कालान्तर में राजनीतिक चेतना के रूप में परिणत हो गयी।

राजनीतिक चेतना का शंख सर्वप्रथम राजा राम मोहनराय ने फूँका जिससे सुप्तावस्था और आत्मविस्मृति को प्राप्त भारतीयों को जाग्रत कर दिया। सन् १८२८ में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना हुई। राजा राम मोहनराय धर्म सम्बन्धी सुधारों के साथ-साथ राष्ट्रिय भावना को विकसित करने के लिए आजीवन उद्योग करते रहे। सन् १८६८ में पूना में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई; उसका भी प्रमुख उद्देश्य भारतीय जनता में एकता की भावना को प्रतिष्ठित करना ही था। इसके पश्चात् 'आर्य-समाज' का नाम आता है जिसकी स्थापना स्वामी दयानन्द द्वारा सन् १८७५ में बम्बई में हुई। स्वामी जी के सामने भी राजनीतिक प्रश्न विद्यमान था। भारत की राजनीतिक अवस्था को देखकर उनके मुख से स्वतः निकल पड़ा था, 'अन्य देशों में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है।'[२] स्वामी दयानन्द ने धार्मिक-सुधारों के अतिरिक्त भारत में राष्ट्रिय जागृति में भी हाथ बटाया था।

राष्ट्रिय भावना को उत्तेजित करने के दो मार्ग दिखायी देते हैं। एक तो धर्म-सुधारकों ने अपनाया था जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, दूसरा

---

[१] Royal Title Act (1876) में विक्टोरिया ने 'कैसरे हिन्द' की पदवी धारण की थी जिससे भारतीय राजा-महाराजाओं के सम्मान को आघात पहुँचा।

[२] 'सत्यार्थ प्रकाश',-अष्टम सम्मुल्लास।

रूप राजनीतिक क्षेत्र में काँग्रेस द्वारा किये गये कार्य-कलाप में देखने को मिलता है। सन् १८८३ में इण्डियन एसोसिएशन की संरक्षकता में प्रथम राष्ट्रिय सम्मेलन हुआ जिसके फलस्वरूप सन् १८८५ में काँग्रेस का जन्म हुआ। काँग्रेस पहले सामाजिक संस्था के रूप में ही हमारे सामने आती है। परन्तु शीघ्र ही उसको अपनी नीति बदलकर राजनीति में भी भाग लेना पड़ा। लार्ड इल्गिन (सन् १८६४-६६) के समय में कई अकाल पड़े, परन्तु राज्य की ओर से अकाल-पीड़ितों को पर्याप्त सहायता न मिलने से प्रजा में असन्तोष बढ़ता ही गया। सरकार ने राजनीतिक चेतना के दमन करने के लिए जो नीति अपनायी उसने इस असन्तोष की भावना को और भी प्रदीप्त कर दिया। इस असन्तोष की भावना से भी राजनीतिक चेतना को विकसित होने में अत्यधिक सहायता मिली।

लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक के सार्वजनिक क्षेत्र में पदार्पण करने से भारतीय राजनीतिक विचार-धारा ने करवट बदली। उस समय राजनीति में औदार्यवाद, शासकों को सहयोग तथा उनके प्रति आस्था आदि भावनाएँ क्षीणोन्मुख हो चुकी थीं। लोकमान्य ने विदेशी शासकों के प्रति घृणा का प्रचार किया। सन् १६०७ में काँग्रेस ने प्रस्तावों की प्रणाली को छोड़कर, उनके अनुसार कार्य करने का दृढ़ निश्चय किया। फलस्वरूप राष्ट्रिय संस्था ने 'डाइरेक्ट ऐक्शन' को अपनाया। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी का आन्दोलन और राष्ट्रिय शिक्षा का विकास---इस त्रिमुखी दृष्टिकोण को अपना कर काँग्रेस ने चलने का प्रयत्न किया। इस समय कुछ ऐसी घटनाएँ भी घटित हुई जिनसे काँग्रेस के आन्दोलन की गति और भी तीव्र हो गयी। सन् १६०५ की वंग-भंग योजना, वन्देमातरम् के नारे पर प्रतिबन्ध,[१] सन् १६०८ में राष्ट्रियदल के कुचलने की नीति को जोरों से अपनाया जाना, १६०८ में लोकमान्य तिलक को छः वर्ष की कड़ी सजा की आज्ञा, १६०६ में सेडीशस मीटिंग्स ऐक्ट और १६१० का प्रेस ऐक्ट आदि घटनाएँ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। परिणाम यह हुआ कि जनता के हृदय में शासक-वर्ग के प्रति घृणा की भावना जाग्रत हो चली।

अँगरेजी शासकों को यह अनुभव होने लगा था कि इस बढ़ते हुए तूफान को रोका नहीं जा सकता। अतएव लार्ड मिण्टो के समय में मार्ले-मिण्टो

---

[१] नवम्बर, १६०५ को पूर्वी बंगाल के सेक्रेटरी ने आज्ञा दी कि 'बन्देमातरम्' का नारा न लगाया जाय।

के सुधारों का समावेश हुआ। सन् १६११ के अन्त में दिल्ली दरबार की योजना हुई जिसमें बंग-भंग की योजना रद्द की गयी। इतना होने पर भी भारतीयों को शान्त न किया जा सका। सन् १६१४ में लोकमान्य तिलक माँडले से छूटकर भारत आये और उन्होंने राष्ट्रिय दल के संगठन का कार्य जोरों से प्रारम्भ कर दिया। एक बार फिर हाथ पसार कर भीख माँगने के स्थान में पैरों पर खड़े होने का उपदेश दिया जाने लगा।[१] महायुद्ध के समय काँग्रेस और अँगरेजी सरकार में समझौता हो गया था जिससे काँग्रेस ने अँगरेजों को उस युद्ध में सहायता देने का भार लिया था। महायुद्ध का अन्त होने पर काँग्रेस को ज्ञात हुआ कि उसको धोखा दिया गया है। अतएव १ अगस्त सन् १६२० को भारत ने गाँधी जी के नेतृत्व में बृटिश साम्राज्यवाद के विरोध में सत्याग्रह का शङ्ख फूँका जिससे बृटिश पार्लियामेण्ट का दिल दहल गया। सन् १६२१-२२ में गाँधी-इरविन के समझौते की बात चली, परन्तु असफलता ही हाथ रही। जनता में स्वराज्य-प्राप्ति की भावना दिन प्रतिदिन प्रबल होती जा रही थी; उसके हृदय में आत्मनिर्भरता और आत्म-निर्णय की भावनाएँ हिलोरें लेने लगी थीं।

निबन्धों में राष्ट्रिय भावना

भारत के राजनीतिक आन्दोलन में साहित्यकारों का भी प्रमुख हाथ रहा है। उन्होंने राष्ट्रिय चेतना को विकसित करने तथा स्वराज्य के प्राप्त करने के मार्ग को प्रशस्त बनाने में श्लाघनीय कार्य किया है। जो कार्य भारतीय नेताओं की वाणी से न हो सका, उसको साहित्यकारों की लेखनी ने कर दिखाया। राष्ट्रिय जागरण को साधारण जनता तक पहुँचाने का सबसे अधिक श्रेय साहित्यिकों को ही दिया जा सकता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भारतीय साहित्य में राष्ट्रिय भावना देखने को नहीं मिलती। भूषण आदि कुछ इने-गिने हिन्दी के कवि हुए हैं जिन्होंने साहित्य में इस भावना को प्रश्रय दिया है; परन्तु इनमें भी हिन्दू राष्ट्रियता ही अधिक थी। आधुनिक युग में साहित्यिक क्षेत्र में राष्ट्रिय भावना के मन्त्र का सर्वप्रथम उच्चारण करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही कहे जाते हैं। 'भारतवर्ष के सुधार का क्या उपाय है', 'इँगलैण्ड और भारतवर्ष' आदि निबन्धों में उनको राष्ट्रिय भावना देखने को मिलती है। 'प्रदीप' नामक पत्र में भी राजनीति विषयक निबन्ध प्रायः निकला करते थे। उन निबन्धों में

[१] 'आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत'-डा० केसरीनारायण शुक्ल, पृ० ६१।

अँगरेज शासकों की नीति की कटु आलोचना भी रहती थी[1]। 'हमें राजनीतिक संशोधन की क्यों आवश्यकता है', 'दल का अगुवा' आदि निबन्धों में बालकृष्ण भट्ट की राष्ट्रिय भावना ही देखने को मिलती है। राष्ट्रिय आन्दोलनों से प्रभावित होकर ही 'ब्राह्मण' ने 'काँग्रेस की जय' और 'देशी कपड़ा' नामक निबन्धों को छापा था। 'कांग्रेस की जय' निवन्ध में लेखक का हृदय राष्ट्रिय भावनाओं से उद्वेलित हो उठा है और वेगवती धारा के समान उसके भावों का स्वत: प्रकाशन हो गया है। काँग्रेस के प्रति उसकी असीम श्रद्धा इस निबन्ध में सहस्रमुखी होकर बह निकली है।[2] इसके अतिरिक्त बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', गदाधरसिंह भट्ट आदि के निबन्धों में यही राष्ट्रिय भावना देखने को मिलती है। परन्तु इस युग की राष्ट्रिय भावना में अँगरेजों की नीति की आलोचना ही अधिक दिखायी देती है, स्वराज्य प्राप्ति के लिए उद्योग करने का कोई विशेष सन्देश सुनने को नहीं मिलता है।

द्विवेदी-युग के आने के समय तक राजनीतिक चेतना ने क्रियात्मक रूप धारण कर लिया था। राजभक्ति को राजविद्रोह की कोटि में गिना जाने लगा था। अतएव इस युग में परम्परा से चली आयी सुधार और आलोचना वाली प्रवृत्ति को प्रश्रय तो मिला ही, साथ ही स्वराज्य-प्राप्ति के लिए जनता को उत्तेजित करने की भावना भी देखने को मिलती है। इस राष्ट्रिय चेतना से प्रभावित होकर विद्वानों ने समाज को यदि भारत की तत्कालीन दुरवस्था पर क्षोभ प्रदर्शित करने के लिए बाध्य किया तो दूसरी ओर अतीत की भव्यता पर गर्व करना चाहिए, इसकी ओर भी सङ्केत किया। अतएव राष्ट्रिय चेतना का प्रथम रूप अतीत के गौरवगान में देखने को मिलता है।

जनता में आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना को प्रतिष्ठित करने के लिए यह आवश्यक था कि अपने भव्य अतीत से उसको परिचित

---

[1] अँगरेजी राज्य के इस कड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिये गये हैं कि हिल नहीं सकते, आमदनी का कोई द्वार खुला न रह गया....ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब फिर कब चेतेंगे ?—'नये तरह का जनून'–'भट्ट निबन्धावली', पृ० १६६।

[2] "अहा हा ! आज तक हमारे कानों और प्राणों में यही ध्वनि गूँज रही है और रह-रह के मुँह से यही निकलता है कि 'काँग्रेस की जय'। क्यों न हो, काँग्रेस साक्षात दुर्गा जी का रूप है, क्योंकि वह देश-हितैषी देवप्रकृति के लोगों की स्नेहशक्ति से आविर्भूत हुई है"—'निबन्ध-नवनीत', पृ० ८१।

कराया जाय। भारत सरकार द्वारा स्थापित प्राचीन शोध और अन्वेषण विभाग की खोजों ने भारतीय संस्कृति और उसके साहित्य पर नया प्रकाश डाला। परिणामस्वरूप पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान अपने प्राचीन वैभव तथा संस्कृति की ओर आकर्षित हुआ। अतएव निबन्धकारों ने भी भारत के अतीत गौरव को निबन्धों में अङ्कित किया। 'प्राचीन भारत की एक झलक',[१] 'भारतीय पुरातन राजनीति',[२] 'प्राचीन शासन-पद्धति और राजा',[३] 'सम्राट अशोक का राज्यशासन',[४] 'तुलसीदास के राजनैतिक विचार'[५] आदि निबन्धों में भारत के अतीत गौरव की ओर सङ्केत किया गया है तथा भारत की प्राचीन राजनीति-व्यवस्था पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसके अतिरिक्त 'इतिहास का महत्व'[६], 'सच्चे ऐतिहासिक ज्ञान की आवश्यकता'[७], 'इतिहास क्या है'[८] आदि निबन्धों में भारत की प्राचीन अवस्था पर प्रकाश डालनेवाले इतिहास को महत्व दिया गया है। 'भारतीय स्कूलों में इतिहास की शिक्षा'[९] निबन्ध में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि इतिहास की शिक्षा से ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ आत्म-सम्मान की भावना भी पुष्ट होती है। आचार्य द्विवेदी ने भारत के प्राचीन गौरव सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे हैं; भारत की प्राचीन सभ्यता से उनका विशेष मोह था। 'भारत के प्राचीन नरेशों की दिनचर्या'[१०], 'भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता'[११], 'प्राचीन भारत में लोकसत्तात्मक राज्य'[१२] 'प्राचीन भारत में युवराजों की शिक्षा'[१३], 'सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता'[१४] 'भारत की प्राचीन शिक्षा का आदर्श'[१५] आदि निबन्धों में भारत के अतीत गौरव पर प्रकाश डालने का ही प्रयत्न किया गया है।

भारत एक धर्म-प्रधान देश है। यहाँ राजनीति धर्म का एक अङ्ग ही मानी जाती रही है। अतएव द्विवेदी-युग में राष्ट्रिय चेतना का दूसरा रूप

---

१ महावीर-प्रसाद द्विवेदी-'सरस्वती' मार्च १९११ ई०।

२ गोविन्दराय परवार काव्यतीर्थ-'सरस्वती' १९१८-१९ ई०।

३ शिवदास गुप्त-'इन्दु' दिसम्बर १९१४ ई०।

४ गङ्गाशङ्कर मिश्र-'इन्दु' अगस्त १९१४ ई०।

५ एक रामायणी-'सरस्वती' फरवरी १९०८ ई०।

६ परशुराम मिरोत्रा-'मर्यादा' मई १९१९ ई०।

७ सम्पूर्णानन्द-'मर्यादा' अक्टूबर १९११ ई०।

८ जर्नादन भट्ट-'सरस्वती' जनवरी १९१३ ई०।

९ सन्तराम बी० ए०-'सरस्वती' १९१६ ई०।

१०-१५ 'विचार-विमर्श' में संगृहीत।

मातृभूमि के दैवीकरण वाले रूप में देखने को मिलती है। 'मातृभूमि की पूजा'[१] निबन्ध में लेखक ने मातृभूमि और भगवान को एकरूप में देखने का प्रयत्न किया है। भारत में वे ईश्वरीय राज्य स्थापित करना चाहते थे जिसमें राजनीति की दीवाल धर्म की नींव पर खड़ी की गयी हो।[२] धर्म को हमारे यहाँ बहुत ही व्यापक अर्थ में लिया गया है। इस युग में कुछ ऐसे भी विद्वान हुए हैं जो धर्म और राजनीति की उन्नति तो चाहते थे परन्तु धर्म की अपेक्षा राजनीति को अधिक महत्व देते थे और परलोक सुधारने के लिए वर्तमान—इस लोक—को पहले सुधार लेने को कहते थे।[३]

राष्ट्रिय चेतना से युक्त होकर जन्म-भूमि की सुषमा के गान के साथ-साथ देशहित के लिए त्याग और सहानुभूति का भी पाठ पढ़ाया जाने लगा। आत्मनिर्भरता को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा। आत्मगौरव-आत्म-विश्वास से उत्पन्न करने के लिए तथा जनता को उद्योगशील बनने का भी उपदेश दिया जाता था।

"हमारी सभ्यता हमको उपदेश कर रही है कि हम संसार की किसी जाति से कम नहीं है। यदि इस समय हमारी जाति जगत की दौड़ में पीछे है तो अब उद्योग करने से अवश्य वह साथ हो जायगी।...देशवासियों! अपने पूर्वजों के चरित्रों पर अभिमान कीजिए और राष्ट्रदेवी के सच्चे उपासक बन कर धर्म-पूर्वक जननी-जन्म-भूमि के गौरवार्थ राष्ट्रियता-स्थापन करने का दृढ़ संकल्प कर लीजिए। परमेश्वर हमारी सहायता करेगा। ईश्वर उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं।"[४]

भारत के नेतागण जनता को एक सूत्र में बँधा हुआ देखना चाहते थे, उसमें संगठन चाहते थे। निबन्धकारों ने इस भावना को भी अपने निबन्धों में प्रश्रय दिया है। बाबादीन शुक्ल लिखते हैं—

---

[१] कन्हैयालाल पोद्दार-'मर्यादा' जनवरी १९११ ई०।

[२] धर्म और राजनीति-हर्षदेव ओली, 'सरस्वती' जनवरी १९२३ ई०।

[३] राजनीति व्यावहारिक धर्म है, वह धर्म जो बातूनी नहीं है, जहाँ कोरी फिलासफी न चले, जिसमें पड़ने से खरे-खोटे की पहचान हो जाती है। राज-नीति इस लोक की बादशाहत की मशीनरी है। जिसको अपना परलोक—अपना भविष्य—सुधारना है उसे अपना यह लोक—अपना वर्तमान—पहले सुधार लेना चाहिए।" धर्म और राजनीति-सत्यदेव परिव्राजक, 'सरस्वती' मार्च १९२३ ई०।

[४] 'स्वराज्य की माँग और भारतीय सभ्यता'-बालाप्रसाद शर्मा, 'मर्यादा' भाग १२, संख्या ४, पृ० १७१।

"बड़े बड़े उपदेशक, महोपदेशक गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाते हैं और हमारी उन्नति-विषय की वक्तृता सुनाते हैं, परन्तु हम अपनी उन्नति क्यों नहीं कर सकते ? हमारी उन्नति के मार्ग का अवरोधक कौन सा पदार्थ है ? विचारने पर, मनन करने पर हमें यही प्रतीत होता है कि चाहे जो कुछ हो, किन्तु जब तक परस्पर एकता का संगठन न होगा तब तक सुधार का होना दुस्तर ही नहीं किन्तु असम्भव है"[१]

देश-भक्तों को अब पूर्ण विश्वास होने लगा था कि यह जाग्रति कुचली नहीं जा सकती; यदि शासक-वर्ग कोई ऐसा अनुचित कार्य करेगा तो यह मुँह की खायगा। 'आधुनिक शासन-प्रणाली' निबन्ध में इस भावना को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है—

"यह नयी भावना (राष्ट्रीय भावना) चाहे आवेगपूर्ण हो परन्तु यह वास्तविक और देशभक्ति-सम्पन्न है। यदि उसके साथ सहानुभूति का वर्ताव किया गया तो यह उपयुक्त मार्ग पर लगायी जा सकती है। परन्तु इसकी उपेक्षा करना या इसे दबाना निर्बुद्धिता होगी। पुराने विचार बड़ी शीघ्रता से बदल रहे हैं और यह भारतवासियों का दोष नहीं है कि वे पितृ तुल्य शासन-पद्धति को अब स्वीकार नहीं करते।"[२]

भारतीयों के हृदय में राजनीतिक जाग्रति हिलोरें मार रही थी। अज्ञानता और मोह का आवरण धीरे-धीरे उनके आँखों के सामने से हट रहा था। उनमें देश-सेवा का भाव भी अङ्कुरित हो चला था। इसको देखकर भारतीय नेता अपनी सफलता पर गर्व का अनुभव करते तो कोई वैसी बात नहीं है, यह स्वभाविक ही था। नीचे के उदाहरण में यही भाव देखने को मिलता है—

"भारतवर्ष की अज्ञानता धीरे-धीरे दूर होकर अब भारतवासी मोह-निद्रा से जगने लगे हैं। उनकी आँखों के सामने से अज्ञान-तम का पर्दा क्रमशः हटता जा रहा है, भविष्य के लिए ये लक्षण अत्यन्त शुभ सूचक हैं। भारतवासियों में स्वार्थ-परता का भाव भी कम होता जा रहा है। शिक्षित भारतीय अपने को किसी खास समाज का व्यक्ति न समझ कर सम्पूर्ण देश का आवश्यकीय अङ्ग समझता है।"[३]

धीरे-धीरे इस चेतना ने भारतीयों के हृदय में जड़ जमा ली थी। स्वराज्य-प्राप्ति की अत्यन्त उत्कट अभिलाषा उन्हें बड़े से बड़ा बलिदान करने में

१ 'ऐक्यता'-बाबादीन शुक्ल, 'इन्दु' किरण ७, माघ सम्वत् १९६६ वि०, पृ० १०८।

२ 'मर्यादा' फरवरी १९१७ ई०।

३ समाजसेवा-जगन्नाथ प्रसाद मिश्र-'मर्यादा' भाग १३, संख्या ६।

पीछे मुड़कर देखने अथवा सोचने-विचारने का अवसर देना भी उपयुक्त नहीं समझती थी। जनता की बाहुओं में बल, हृदय में उत्साह, आत्मा में ओज आ गया था। नीचे के अवतरण में यही भाव अङ्कित हुआ है—

"आज हम भी स्वराज्य के लिए उत्सुक हो रहे हैं। कुछ दिन पहले तो हमारा प्रयत्न केवल मौखिक था, पर अब हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं। कल जहाँ हम प्रस्तावों पर करतल ध्वनि करने में ही अपने कर्त्तव्य की इति-श्री समझते थे, वहाँ आज गोलियों का आवाहन किया जा रहा है। आत्म-समर्पण, त्याग, सेवा-भाव ने हमारे तमोव्याप्त जीवनों को ज्योतिमर्य बनाना आरंभ कर दिया है। अब हमारे मुख-मण्डल पर तन्द्रा के स्थान में जाग्रति के चिह्न दीख पड़ने लगे हैं। हमारी बाहुओं में बल, हमारे हृदयों में उत्साह, हमारी आत्माओं में ओज आ चला है। पराधीनता के निविड़तम को चीरकर स्वातन्त्रय का अरुणोदय हो रहा है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों ने राजनैतिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए एक ओर प्रोत्साहित किया तो दूसरी ओर स्वराज्य-प्राप्ति के साधनों की ओर सङ्केत भी किया है। उन्होंने यदि जनता में स्वार्थ त्याग, सतत उद्योग और दृढ़ निश्चय की भावनाओं को उत्तेजित किया तो दूसरी ओर भारतीय नेताओं तथा काँग्रेस के कार्यों की प्रशंसा भी की है। परन्तु कभी-कभी कुछ ज़माना साज़ लीडरों के कार्य-कलाप की आलोचना करने में भी पीछे नहीं हटे हैं। उन्हें जहाँ कहीं अवसर मिला है वहाँ ऐसे लीडरों की खूब पोल खोली है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा लिखते हैं—

"एक आजकल के लीडर हैं, किसी दुर्घटना को रोकने के लिए तार पर तार दिये जाते हैं, पधारने की प्रार्थना की जाती है, पर 'हमारी कोई नहीं सुनता' कहकर टाल जाते हैं। पहुँचते भी हैं तो उस वक़्त जब मार-काट हो चुकती है, सो भी सरसरी तहक़ीकात के बहाने। लीपापोती के लिए लेक्चर देना और तहक़ीक़ात के लिए पहुँच जाना, लीडरी के लिए इतना काफी है। गोली बीस क़दम तो बन्दा तीस क़दम।"[2]

अतएव यह कहा जा सकता है कि उस युग के निबन्धकारों ने केवल जनता का ही मार्ग-प्रदर्शन नहीं किया है वरन् नेताओं की भी कभी-कभी आलोचना कर बैठते थे। नेताओं की आलोचना द्वेषवश होकर नहीं की जाती

---

[1] किधर-श्री सम्पूर्णानन्द-'श्री शारदा', जुलाई १९२२, पृ० १९८।

[2] भगवान श्रीकृष्ण—'पद्मपराग', पृ० ८।

थी वरन् उनकी त्रुटियों की ओर सङ्केत कर उनमें सुधार चाहते थे। इस युग के साहित्यकारों ने वह कार्य किया है जो इस युग के राजनीतिक नेता न कर सके, राष्ट्रियचेतना को दृढ़ तथा व्यापक बनाने में साहित्यकार की प्रौढ़ लेखनी ही नेताओं से अधिक सफल हुई है।

द्विवेदी-युग के राजनीति-विषयक निबन्धों को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, विदेशी राजनीति सम्बन्धी और द्वितीय, भारतीय राजनीति सम्बन्धी। विदेशी राजनीति सम्बन्धी निबन्धों को दो उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, जिनमें विदेशी आन्दोलनों का विवरण दिय गया है और द्वितीय, जिनमें विदेशी शासन-पद्धतियों का वर्णन किया गया है। प्रथम उपविभाग के अन्तर्गत आनेवाले निबन्ध-'अँगरेजी प्रजा का पराक्रम'[१], 'बृटिश पार्लियामेण्ट का विकास और उसका संगठन'[२], 'फ्रांस का राष्ट्र-विप्लव'[३], 'टर्की की जाग्रति'[४], 'चीन की क्रान्ति क्यों हुई'[५], 'फ्रांस की राज्य-क्रान्ति पर एक दृष्टि'[६], आदि निबन्ध कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों में लेखक का प्रमुख उद्देश्य भारतीय जनता को विदेशी आन्दोलनों के मूलकारणों तथा उनके परिणाम से परिचित कराना है। द्वितीय उपविभाग के अन्तर्गत-'नैपोलियन बोनापार्ट की शासन-पद्धति'[७], 'फ्रांस की शासन-पद्धति'[८], 'अमरीका की शासन-पद्धति'[९], 'दक्षिणी अफ्रीका और वहाँ की शासन-प्रथा'[१०], 'इँगलैण्ड की शासन-पद्धति'[११], 'अमेरिका का प्रजातन्त्र'[१२], आदि निबन्ध कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों में लेखक भारतीय जनता को विदेशी राजनीतिक पद्धतियों से

---

[१] महावीर प्रसाद द्विवेदी-'सरस्वती', मार्च, १९०८ ई०।
[२] देवी प्रसाद शुक्ल-'सरस्वती', मार्च, १९१८ ई०।
[३] महेन्द्र पाल सिंह-'मर्यादा', सितम्बर-अक्तूबर, १९१२ ई०।
[४] 'मर्यादा', सितम्बर-अक्तूबर, १९१२ ई०।
[५] पुरन्दर-'मर्यादा', अगस्त, १९१३ ई०।
[६] सोमदत्त विद्यालङ्कार-'साहित्य', मार्गशीर्ष अङ्क ६, संवत् १९७१ वि०।
[७] ईश्वरी प्रसाद-'सरस्वती', दिसम्बर, १९२२ ई०।
[८] अनन्तराम वर्मा-'सरस्वती', मई, १९२४ ई०।
[९] अनन्तराम वर्मा-'सरस्वती', सितम्बर, १९२४ ई०।
[१०] सोमेश्वरदत्त शुक्ल-'मर्यादा', दिसम्बर १९१३ ई०।
[११] शिवनारायण द्विवेदी-'मर्यादा', जनवरी, १९१५ ई०।
[१२] बालमुकुन्द शर्मा-'इन्दु', दिसम्बर, १९१४ ई०।

परिचित करा तत्कालीन भारत में प्रचलित राजनीतिक पद्धति की तुलना करने का अवसर प्रदान करता है। विदेश में नागरिक और राष्ट्र में किस प्रकार का सम्बन्ध रहता है तथा जब इनमें से कोई भी अपने कर्तव्यपथ से भ्रष्ट हो जाता है तो क्या परिणाम होता है, इसका अङ्कन ही लेखकों को अभीष्ट है।

भारतीय राजनीति विषयक निबन्धों में अँगरेजी नीति की कटु भर्त्सना तथा भारतीयों को स्वराज्य प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन भी दिया गया है। 'स्वराज्य की योग्यता',[१] 'स्वराज्य और भारत',[२] 'स्वाधीनता और पराधीनता'[३] 'राष्ट्रों के कर्तव्य'[४], 'राष्ट्रिय आदर्श'[५], 'क्या हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते'[६], 'हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं'[७], 'स्वदेशी आन्दोलन'[८], 'भारतवर्ष में क्रान्ति की लहर'[९], 'भारत का भविष्य और वर्तमान काल'[१०], आदि निबन्धों में तत्कालीन भारत की राजनीतिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। शासक-वर्ग दमन-नीति के अपनाने से अपनी भूल पर पछता रहा था, परन्तु भारत स्वराज्य-प्राप्ति के क्षेत्रमें उत्तोत्तर अग्रसर होता चला जा रहा था। भारतीयों को यह प्रतीत होने लगा था कि शासन-सुधार के लिए विदेशियों के सामने हाथ फैलाना ठीक नहीं है, वे भारत में स्वराज्य स्थापित करने की स्वर्गीय कल्पना का आनन्द ले रहे थे।

सामाजिक परिस्थिति

अँगरेजों की शासन-व्यवस्था भारत में दिन-प्रतिदिन सुदृढ़ होती जा रही थी। अँगरेजों के सम्पर्क में आने से तथा अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से, उनके व्यावहारिक आदर्शों से परिचित होकर, भारतीयों को एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण मिला। धीरे-धीरे उन्हें यह अनुभव होने लगा कि उनकी अवनति का मूल कारण उनकी सामाजिक व्यवस्था ही है। पश्चिमी सभ्यता के संसर्ग से

---

[१] कृष्णदेवप्रसाद 'मर्यादा', नवम्बर, १९१६ ई०।
[२] जगन्नाथ प्रसाद मिश्र 'मर्यादा', मार्च, १९१७ ई०।
[३] नन्दलाल भगत-'मर्यादा', एप्रिल, १९१२ ई०।
[४] जनार्दन भट्ट-'मर्यादा', जुलाई, १९१२ ई०।
[५] बदरीदत्त शर्मा-'मर्यादा', अगस्त, १९१६ ई०।
[६] के० डी० मालवीय-'मर्यादा', मई, १९१४ ई०।
[७] गोकर्णनाथ मिश्र-'मर्यादा', अक्टूबर, १९१७ ई०।
[८] एक बैठाठाला-'प्रभा' (कानपुर), सितम्बर, १९२० ई०।
[९] श्रीयुत श, प, स-'प्रभा' (कानपुर), अक्टूबर, १९२० ई०।
[१०] दुलीचन्द मिश्र-'लक्ष्मी', जून, १९१५ ई०।

हमारे स्वप्निल जीवन तथा आध्यात्मिकता की लोक उपेक्षाकारिणी भावना को आघात लगा। भारतीय समाज धर्ममूलक था, उसका निर्माण त्याग तथा संयम की नीव पर, पारलौकिकता, आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता को लक्ष्य में रखकर किया गया था, परन्तु योरोपीय समाज में लौकिकता, भौतिकता तथा यथार्थवादिता को ही अधिक महत्व दिया गया है।

अँगरेजों का भारत में राज्य स्थापित हो जाने से भारतीय समाज पर योरोपीय समाज का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि विजित जाति विजेताओं की प्रत्येक वस्तु एवं कार्य को भय तथा सम्मान की दृष्टि से देखती है। ऐसे समय में भारतीय समाज की रक्षा और दृढ़ता के लिए ऐसे विचक्षण और उदार हृदयवाले नेताओं की आवश्यकता थी जो सामयिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर, आवश्यक सुधार कर समाज के अङ्गों को छिन्न-भिन्न होने से बचा ले। भाग्यवश राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ऐसे नेता भारत को मिले जिससे हमारे समाज को एक नवीन रूप एवं आधार प्राप्त हुआ।

ब्रह्मसमाज का सम्बन्ध यद्यपि बंगाल से ही अधिक रहा, परन्तु उस के सुधारों से शिक्षित सम्प्रदाय अवश्य ही प्रभावित हुआ। दूसरी संस्था आर्यसमाज है जिसने समाज-सुधार का अत्यधिक कार्य किया है। आर्यसमाज ने न तो पुराने हिन्दू-धर्म के समाज को अपनाया और न ईसाइयों के नये समाज का अनुकरण किया। पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार हिंदू-समाज में जो त्रुटियाँ थीं, उन्हें पुराने समाज के साथ छोड़कर वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जो अपनी कमजोरियों के कारण दूसरों की दृष्टि में हेयता का पात्र न बने। ब्रह्मसमाज ने जहाँ विदेशी समाज के साथ सन्धि करनेका प्रयत्न किया है वहाँ आर्यसमाज ने भारतीय समाज की रक्षा। आर्यसमाज ने धर्म और समाज की उन मूलभूत भावनाओं पर आक्रमण किया है जिनका आधार रूढ़ि और अन्धविश्वास था। वर्णभेद का आधार जन्म न होकर कर्म है, इसका उन्होंने स्पष्ट रूप से समर्थन किया। इसके अतिरिक्त विधवा-विवाह का समर्थन, स्त्री तथा शूद्रों को समान अधिकार, अछूतोद्धार आदि आर्यसमाज के मुख्य उद्देश्य रहे हैं। वास्तव में आर्यसमाज का प्रधान उद्देश्य समाजसुधार ही था, उसने हिंदू जाति को एक सूत्र में गूँथने का सर्वप्रथम प्रयास किया है।

निबन्धों में समाज-सुधार की भावना

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समाज-सुधार की भावना अत्यन्त वेग से प्रवाहित हो रही थी। साहित्य भी उससे अछूता न रहा। परिस्थितियों

से प्रभावित होकर, वस्तुस्थिति एवं वातावरण से परिचित होकर सुधार के क्षेत्र में बढ़ने वाले प्रथम साहित्यकार भारतेन्दु ही कहे जा सकते हैं। उन्होंने प्रचलित सामाजिक कुरीतियों की निन्दा कर, आवश्यक तथा श्रेयस्कर वस्तुओं के समावेश का आग्रह कर पुरातन हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए स्वर ऊँचा किया। 'भारतवर्ष के सुधार के क्या उपाय हैं' निबन्ध में इस विषय में अपने विचार उन्होंने स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं।

भारतेन्दु के समकालीन अन्य लेखकों में भी समाज-सुधार की भावना देखने को मिलती है जिनमें से बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। 'परम्परा' निबन्ध में भट्ट जी ने सामाजिक रूढ़ियों पर बहुत-कुछ प्रकाश डाला है—

"हम लोग बाल्य विवाह के हटाने को कितना ही टाँय-टाँय किया करते हैं, अनेक इसके दोष दिखाते हैं किन्तु परम्परा के क्रम के विरुद्ध है इसलिए केवल अरण्य-रोदन सा होता है।"[1]

इस तरह उक्त निबंध में विधवा-विवाह, एक जाति वालों का सह-भोजन, 'ब्याह-शादी' में गाली गाने की प्रथा, 'गमी में महीनों और बरसों तक सियापा,' आदि रूढ़ियों का उल्लेख किया गया है। निबन्ध के अन्त में लेखक 'परम्परा' को धन्यवाद देता है और कहता है कि परम्परा के सहारे ही हिन्दू-धर्म अपनी रक्षा कर सका है। इस निबन्ध में लेखक को परम्परा प्रिय अवश्य है, परन्तु उन समाजगत रूढ़ियों में वह सुधार भी चाहता है जिनसे हिन्दू समाज को हानि होने की सम्भावना है।

पण्डित प्रताप नारायण मिश्र ने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित हो कर अनेक निबन्धों की रचना की है जिनमें से 'बाल्यविलाह विषयक एक चीज', 'पतिव्रता', 'होली है', 'समय का फेर', 'पंच परमेश्वर', 'किस पर्व में किसकी बन आती है', 'किस पर्व में किस पर आफ़त आती है', 'विलायत यात्रा', 'ऊँच निवास नीच करतूती' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में हिन्दू सजाज की उन सभी कमजोरियों तथा बुराइयों पर प्रकाश डाला गया है जो नित्यप्रति हमें देखने को मिलती हैं।

द्विवेदी-युग के आने के समय तक समाजसुधार की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी थी और सामाजिक चेतना कुछ गहराई में जाने लगी थी। भारतेन्दु-युग में समाज-सुधार की भावना मध्यम वर्ग तक ही सीमित रही। दहेज, विदेशगमन, शिक्षा-सम्बन्धी सुधार मध्यम वर्ग से ही अधिक सम्बन्ध

[1] 'परम्परा'—बालकृष्ण भट्ट—'भट्ट निबन्धावली', पृ० ३।

रखते हैं। उस युग के लेखकों का ध्यान समाज के उस निम्न वर्ग की ओर अधिक नहीं गया जो रूढ़िग्रस्त समाज की परिपाटियों से आक्रान्त हैं। द्विवेदी युग में लेखकों का ध्यान कृषक, मजदूर तथा समाज की निम्न श्रेणी के अन्य व्यक्तियों की ओर भी गया। वस्तुत: द्विवेदी-युग में राजनीतिक और सामाजिक सुधारों की भावनाएँ मिलकर एक हो गयीं।

जीवन का आदर्श व्यक्ति के विचारों पर निर्भर है, उसी प्रकार समाज का आदर्श समाज के नेताओं पर आश्रित है। समाज-सुधारक पुरानी रूढ़ियों को हटाकर नवीन परिपाटियों के प्रचलन पर जोर देते हैं। यह तभी संभव है जब समाज के नेता एक ओर समाज को नैतिकता की ओर ले जाते हैं, दूसरी ओर उसकी प्राकृतिक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं करते हैं। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीन और नवीन पद्धतियों में उपयुक्त संशोधन कर अपूर्व सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व की भाँति प्रत्येक समाज का अपना व्यक्तित्व होता है। समाज का कल्याण चाहनेवालों को उसके व्यक्तित्व को सदैव ध्यान में रखना पड़ता है। जो समाज अपने व्यक्तित्व की अवहेलना न कर अन्य समाज की विशेषताओं को ग्रहण करता है वही अपने को सुदृढ़ एवं अधिक दिनों तक जीवित रखने का दावा कर सकता है। द्विवेदी-युग के साहित्यकारों को पूर्णतया विदित था कि हिन्दू समाज का अपना व्यक्तित्व है। उसे बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि वह ग्रहण और त्याग वाली वृत्ति को अपनाये। 'क्या हम जीवित रहेंगे' निबन्ध में इसी भावना को स्पष्ट किया गया है—

"समाजशास्त्र के उपर्युक्त नियम हमें बतलाते हैं कि जब तक हम समय के अनुकूल परिवर्तन नहीं करते और अपने सठियाये हुए अंगों में नवीनता का प्राण नहीं दौड़ाते तब तक हम जीवन-युद्ध में अपनी सत्ता स्थित नहीं कर सकते। पुरानी जञ्जीरों का तोड़ना, नयी रोशनी को अपनी तौर से लेकर सर्वथा अपना बना लेना, ये सब योग्य बनने के साधन हैं। जब तक हम किसी पुरानी चाल को, केवल इसलिए छोड़ना पसन्द नहीं करते कि वह हमारी पुरानी चाल है, तब तक हमारे जीवन की स्थिरता का कोई भी लक्षण नहीं है। नयी विद्या, नयी सभ्यता, इन सबको अपना बनाकर ले लेने में ही हमारी जाति का भला है।"[1]

---

[1] 'क्या हम जीवित रहेंगे'—श्रीयुत इन्दु शर्मा, 'प्रभा' (खण्डवा), वैसाख शुक्ल १ संवत् १९७० वि०।

इस तरह उस काल के समाज विषयक निबन्धों में हिन्दू समाज के परम्परागत संस्कारों की रक्षा करते हुए विदेशी समाज की विशेषताओं को अपनाने को कहा गया है। 'समाज-सुधार'[१], 'समाज-सेवा'[२], 'हमारी सामाजिक अपूर्णता'[३] आदि निबन्धों में इसी भावना को चित्रित किया गया है।

समाज के व्यक्तित्व में विकास लाने के लिए वातावरण के परिवर्तन के अनुसार समाज के आदर्श में भी हेर-फेर की आवश्यकता होती है। हिन्दू समाज का प्राचीन आदर्श भौतिकता के युग में अधिक मान्य नहीं समझा गया। अतएव उसमें परिवर्तन कर लेने की ओर भी साहित्यिकों को ध्यान गया है। 'प्राचीन और आर्वाचीन समाज'[४] निबन्ध में इसी भाव को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

हिन्दू-समाज अपने व्यक्तित्व के अभिमान के ही आधार पर सहस्रों वर्ष से जीवित है। उसने वातावरण के अनुकूल अपने में सदैव परिवर्तन भी किया है तथा समय के प्रतिकूल प्रथाओं के त्याग देने की भी प्रवृत्ति दिखायी है। द्विवेदी-युग के निबन्धकार भी इसी भावना से प्रेरित होकर समय के प्रतिकूल प्रथाओं—छुआ-छूत, जात-पाँत आदि—का विरोध करते दिखायी देते हैं। 'हिन्दू जाति की दुर्दशा के कारण और उसके निवारण के उपाय'[५] निबन्ध में इसी भाव पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पर हिन्दुओं को अभिमान भी है। 'हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था'[७] निबन्ध में लेखक को हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था पर गर्व है इसका प्रकाशन लेखक ने बड़ी सुन्दर रीति से किया है। इस तरह हम देखते हैं कि निबन्धकार समाज में सुधार तो अवश्य चाहता है परन्तु उसके अस्तित्व को मेट कर नहीं, इसी से वह हिन्दू समाज के अस्तित्व की रक्षा में पूर्णतया संलग्न प्रतीत होता है।

समाज के व्यक्तित्व के दो अङ्ग होते हैं—चेतन और अचेतन। समाज के चिन्तनशील व्यक्ति चेतन विभाग के अन्तर्गत और साधारण जनता अचेतन विभाग में आती है। सामाजिक रूढ़ियों, प्रथाओं, परिपाटियों का मूल

---

[१] मुकुटधर पाण्डेय—'श्रीकमल', अग्रहण संवत् १९७३ वि०।

[२] कामताप्रसाद गुरु—'श्रीशारदा', अगस्त १९२२ ई०।

[३] 'गोवर्द्धनलाल', एम० ए०—'लक्ष्मी', मई १९१८ ई०।

[४] 'कन्नोलमल', एम० ए०—'लक्ष्मी', जनवरी १९१९ ई०।

[५] कुँवर चाँदकरण शारदा—'माधुरी', जुलाई-दिसम्बर संख्या ३, १९२४ ई०।

[६] गोपाल दामोदर तामस्कार—'सरस्वती', अगस्त १९२४ ई०।

अचेतन विभाग में ही रहता है। समाज का यह अङ्ग विचार-प्रधान न होकर भाव-प्रधान ही अधिक होता है। तर्क द्वारा सत्य को प्राप्त करने का उसमें अभाव होता है। अतएव साधारण जनता के जीवन में सुधार अथवा परिवर्तन करने के लिए दो प्रकार के साधन अपनाये जाते हैं—प्रथम शिक्षा-प्रचार और द्वितीय भावप्रवण तथा मर्मभेदी उक्तियाँ।

शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपने स्वत्व को पहचानता है और अन्धानुकरण न कर विवेचनयुक्त मार्ग का अनुसरण करता है। किसी भी समाज की उन्नति, विचारशील प्रवृत्ति के अपनाने से ही होती है और यह शिक्षा के प्रचार द्वारा ही संभव है। शिक्षा के अभाव में जनसाधारण में समयानुकूल बनने वाली शक्ति की न्यूनता होती है जिससे वह विनाश की ओर अग्रसर करने वाली रूढ़ियों को ही अपनाये रहता है। इस प्रकार अन्त में वही समाज मानसिक दासता के रोग से पीड़ित होने लगता है। द्विवेदी-युगीन साहित्यकारों को अपने समाज में शिक्षा का अभाव बहुत ही अखरा। अतएव शिक्षा के प्रचार की भावना से युक्त होकर उन्होंने ऐसे सैकड़ों निबन्ध लिखे जिनमें जनता को शिक्षित बनने के लिए कहा गया था। स्त्री-शिक्षा पर भी इस युग में विशेषरूप से बल दिया गया। 'स्त्री-शिक्षा का उपाय' निबन्ध में बाबादीन शुक्ल कहते हैं—

"यद्यपि इस संसार से मुक्त होने के लिए हमारे श्रद्धेय महर्षियों के बताये हुए जप-यज्ञादि अनेक साधन उपस्थित हैं किन्तु विचारना होगा कि इन साधनों का कोई प्रधान साधन तो नहीं है बिना जप-यज्ञादि साधनों के सिद्ध करने में मनुष्य को असमर्थ होना पड़े। भाइयों! उन सम्पूर्ण साधनों को सिद्ध करने में प्रधान कारणों में से एक सबसे बड़ा कारण स्त्रियों को शिक्षित होना है। जो-जो साधन मनुष्य के लिए परलोक तथा इस लोक के लिए आवश्यक हैं वे सम्पूर्ण साधन स्त्रियों के शिक्षित होने से ही प्राप्त हो सकते हैं"[१]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग में स्त्री-शिक्षा के प्रचार को कितना महत्व दिया जाता था। इस युग के सर्व प्रमुख लेखक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी शिक्षा-प्रचार विषयक अनेक निबन्ध लिखे हैं। तत्कालीन समाज में फैली हुई निरक्षरता को देखकर इन्हें बड़ा क्षोभ होता था। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—

"इस देश में निरक्षरता का ही आधिपत्य है। हिसाब लगाया गया है कि किसी गाँव में मदरसा है तो तीन गाँव में नहीं। यदि १०० में पन्द्रह लड़के

---

१ 'स्त्री शिक्षा का उपाय'-बाबादीन शुक्ल—'इन्दु', किरण ११, सम्वत् १९६६ वि०, पृ० १६१।

मदरसे जाते हैं तो ८५ लड़के गाय-भैंस चराते या गिल्ली-डंडा खेलते हैं। आबादी के लिहाज़ से हर आदमी पीछे आठ आने भी शिक्षा के लिए नहीं खर्च किया जाता।[१]

एक दूसरे स्थान पर द्विवेदी जी लिखते हैं---

'देहात में निरक्षरता का समुद्र उमड़ रहा है। कोसों मदरसों का नाम नहीं। देहातियों को यह भी नहीं मालूम कि मदरसा खोलने के लिए किसको लिखना चाहिए............गन्दगी का यह हाल है कि कूड़े के ढेर, मकानों के चबूतरों से लगे हुए हैं। यह भारत इन्हीं गन्दे गाँवों के अस्तित्व के कारण आबाद है, इन्हीं के सुधार से भारत का सुधार होगा।........याद रहे, इन्हीं को सुधारने और इन्हीं में शिक्षा-प्रचार करने से भारत की उन्नति होगी। यह बात ध्रुव सत्य है"।[२]

इस तरह उस युग के लगभग सभी प्रमुख निबन्धकारों ने शिक्षा-प्रचार पर बल दिया है। विद्या का गुण-गान करने में तो वे थकते ही नहीं थे---

"विद्या के प्रकाश से वह पदार्थ देख पड़ते हैं जो कभी आँखों से दिखायी नहीं देते, विद्या के प्रभाव से घर बैठे देश-देशान्तर के समाचार विदित होते हैं, विद्या के होने से रूप की शोभा बढ़ जाती है, चित्त अत्यन्त प्रसन्न रहता है। इस गुप्त धन से बड़ा ही सुख मिलता है, इससे जगत् मात्र वशीभूत होता है।"[३]

द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों को जनता में शिक्षा का अभाव तो अखरा ही, साथ ही तत्कालीनशिक्षा-प्रणाली भी उन्हें दोष से मुक्त न दिखायी पड़ी, अतएव शिक्षा-प्रणाली में सुधार होना चाहिए, इस पर भी बहुत कुछ लिखा गया। 'भारतीय शिक्षा-प्रणाली में कुछ दोष'[४], 'आधुनिक शिक्षा-पद्धति'[५], 'शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य'[६], 'वर्तमान शिक्षा का आदर्श'[७], 'आधुनिक

---

[१] 'भारत में शिक्षा की दशा'---'सरस्वती' मई १९१५ ई०।

[२] 'माननीय मेम्बरों की बात'---'विचार-विमर्श' में संगृहीत, पृ० ४०९।

[३] 'आदर्श-कुमारी'--रामादेवी काशी---'इन्दु' भाद्रपद शुक्ल २ सम्वत्, १९६६, पृ० २१।

[४] गुरु नारायण मेहरोत्रा---'सरस्वती', जुलाई १९१९ ई०।

[५] बनारसी दास चौबे---'मर्यादा', नवम्बर १९१२ ई०।

[६] गोपाल दामोदर तामस्कर---'सरस्वती', मार्च १९२१ ई०।

[७] हरिहर स्वरूप शर्मा---'मर्यादा', जून १९१९ ई०।

शिक्षा और देश का भविष्य[१],' 'हमारी शिक्षा'[२] आदि निबन्धों में तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन किया गया है। भारत में जिस प्रकार की शिक्षा उस समय स्कूलों में दी जाती थी उससे शिक्षित व्यक्ति क्लर्क अथवा अधिक से अधिक स्कूल मास्टर हो जाता था। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

"भारत में अर्थकरी शिक्षा की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। यहाँ की शिक्षा की बदौलत क्लर्क, मुहर्रिर, लेखक, स्कूल मास्टर ही अधिकतर पैदा होते हैं और सारी उम्र कलम घिसते-घिसते बिता देते हैं। उच्च-शिक्षा पाये हुए युवक, बहुत हुआ तो, वकील बनकर अदालतों की शोभा बढ़ाते और दीन-दुखियों का धन स्वाहा कराने में सहायक होते हैं। फिर भी सबको काम नहीं मिलता। ३० रुपये की जगह खाली होने का यदि कोई विज्ञापन निकलता है तो हजारों युवक टिड्डी-दल की तरह, विज्ञापन-दाता के ऊपर टूट पड़ते हैं"।[३]

यदि इस युग के लेखक एक ओर आधुनिक शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते थे तो दूसरी ओर प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली की प्रशंसा भी करते थे। 'प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली[४]', 'प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति'[५] आदि निबन्ध इसी उद्देश्य से लिखे गये थे। कभी-कभी विदेशों में प्रचलित शिक्षा-पद्धति के गुण दिखाने के लिए तथा भारत की शिक्षा-प्रणाली से तुलना करने के लिए भी कुछ निबन्ध लिखे जाते थे जिनमें से 'जापान में शिक्षा-प्रणाली'[६] 'जापान और भारत में शिक्षा का तारतम्य'[७] आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं।

समाज में सुधार करने के लिए विद्वान जिस दूसरे अस्त्र का प्रयोग करते हैं वह है भाव प्रवण मर्मभेदी उक्तियाँ। मनुष्य के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए उसकी स्वार्थ बुद्धि की कटु आलोचना तथा संवेगों को उत्तेजित करना

---

[१] लौटू सिंह गौतम—'माधुरी', फरवरी १६२४ ई०।

[२] शिवदुलारे मिश्र—'श्री कमला', संख्या ८ श्रावण संवत् १६७३ ई०।

[३] जापान और भारत में शिक्षा का तारतम्य—'लेखाञ्जलि' में संगृहीत, पृ० ११२।

[४] काशी प्रसाद पाण्डेय—'मर्यादा', अगस्त १६१२ ई०।

[५] गोपाल दामोदर तामस्कर—'सरस्वती', जनवरी १६२२ ई०।

[६] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जनवरी १६०६ ई०।

[७] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'लेखाञ्जलि' में संगृहीत।

आवश्यक होता है। साधारण जनता को वशीभूत कर कठपुतली की तरह नचाने में, उद्वेगों को उभाड़ने वाला जितना सफल हो सकता है उतना एक चिन्तनशील व्यक्ति अपने विचारों का प्रकाशन एवं प्रतिपादन कर समाज को आकर्षित नहीं कर सकता। द्विवेदी-युग के निवन्धकार इस तथ्य से पूर्णतया परिचित ज्ञात होते हैं। उन्होंने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर जो निवन्ध लिखे हैं उनमें वक्तृतात्मक शैली का ही उपयोग किया है। इस शैली में जब उपदेश का पुट दे दिया जाता है तो इसकी कान्ति द्विगुण हो जाती है और पाठक के हृदय पर एक अमिट छाप लगा देती है। हरिहर प्रसाद बी० ए० ने 'आशावाद' निबन्ध में इसी शैली को अपनाया है—

"भारतवर्ष अपने को एक बन्द पानी का तालाव वनाकर और उसमें प्राचीन समय के कीड़े-मकोड़े पैदा करके बीसवीं शताब्दी में उन्नति नहीं कर सकता, उसे समय के साथ चलना होगा। हमारी जाति में जीवन के चिह्न हैं जिन्हें काम में लाने की आवश्यकता है और आवश्यकता है इस वात की, कि पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण हो। जो लोग भय से काम कर रहे हैं उनसे मैं कहता हूँ कि वह समय दूर नहीं जबकि उनकी अभिलाषाएँ पूरी हों, परन्तु शर्त यह है कि निराशा की वेदी पर वे अपने को वलिदान न होने दें।"[1]

इसी तरह 'भारत का अभ्युदय' निबन्ध में शिक्षा-प्रचार के विषय में लिखते समय निबन्धकार ने इसी शैली को अपनाया है—

"गवर्नमेण्ट पर निर्भर रह कर्तव्य-परायणता को तिलाञ्जलि दे बैठना उचित नहीं है, कुछ हाथ पैर बढ़ाइए। अपने मुहल्लों, अपने गाँवों और अपने शहरों के लड़कों की शिक्षा का प्रबन्ध करिए। यदि आपको दिन में समय नहीं मिलता तो आप नाइट स्कूल खोलिए, इष्ट-मित्रों की सहायता से शिक्षकों का कार्य अपने ऊपर ओढ़ लीजिए, कुछ कार्य कर दिखाइए तब सहायक आप से आप पैदा हो जायँगे।"[2]

वक्तृतात्मक शैली के अनेक उदाहरण द्विवेदी-युग के निवन्धों में देखने को मिलते हैं। अध्यापक पूर्णसिंह, सत्यदेव, गणेशशंकर 'विद्यार्थी' आदि के निबन्धों में तो यह शैली अपने चरम उत्कर्ष के समीप पहुँच गयी है।

सामान्य जनता के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए दो प्रकार के साधन उपयोग में लाये जाते हैं; प्रथम अपरोक्ष और द्वितीय परोक्ष। यदि समाज में

---

[1] 'आशावाद'—हरिहरप्रसाद बी० ए०, 'मर्यादा', फरवरी १९१९ ई०।

[2] 'भारत का अभ्युदय'—ब्रजमोहन लाल गुप्त-'मर्यादा', मार्च १९१४ ई०।

कोई कुरीति प्रचलित है तो कटु भर्त्सना कर उसमें सुधार के लिए उपदेश दिया जाता है, यह अपरोक्ष अथवा सीधा मार्ग है। परोक्ष साधन में विनाशकारी रूढ़ियों को प्रत्यक्ष रूप से निन्दा न कर एक नवीन एवं संशोधित मार्ग के अपनाने पर अधिक बल दिया जाता है। द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों ने अधिकतर अपरोक्ष मार्ग को ही अपनाया है। इस कार्य में उन्होंने भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों के दिखाये हुए मार्ग का अनुसरण किया है। 'स्त्रियों की पराधीनता'[1], दहेज की कुप्रथा से हानियाँ'[2], 'सम्मिलित हिन्दू कुटुम्ब-प्रथा के दूषण'[3], 'हिन्दुओं की सम्मिलित परिवार की कुप्रथा से हानियाँ'[4], 'हिन्दुओं में बाल-विवाह'[5], 'दीपावली'[6] आदि निबन्धों में समाज में प्रचलित कुरीतियों का खण्डन कर, उन पर सीधे-सीधे व्यंग्य-विद्रूप बरसाये गये हैं।

जिन निबन्धों में परोक्ष प्रणाली अपनायी गयी है उनके दो विभाग किये जा सकते हैं; प्रथम जिनमें प्राचीन भारतीय पद्धतियों को अपनाने अथवा उन को बनाये रखने की ओर सङ्केत है और द्वितीय विदेशी समाज से सम्बन्धित निबन्ध हैं। प्रथम विभाग के अंतर्गत आने वाले निबन्धों में, 'प्राचीन समय में भारतीय कृषकों की सामाजिक व आर्थिक अवस्था'[7], मनु का नारी धर्म'[8], 'प्राचीन भारत की शिक्षा-प्रणाली'[9] आदि की गणना की जायगी। द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आने वाले, 'जापानीय स्त्री-समाज'[10], 'अमेरिका का गृह-प्रबन्ध'[11] 'जापान में शिक्षा-प्रणाली'[12], 'अफलातून की आदर्श सामाजिक व्यवस्था'[13] आदि निबन्धों को कहा जा सकता है। इन निबन्धों में समाज-सुधार

---

[1] सत्येन्द्र—'मर्यादा', मई १९१३ ई०।
[2] गोपाल शरण सिंह—'सरस्वती', जुलाई १९१४ ई०।
[3] मिश्रबन्धु—'सरस्वती', दिसम्बर १९०५ ई०।
[4] जनार्दनभट्ट—'सरस्वती', जनवरी १९१४ ई०।
[5] ,, —'सरस्वती', फरवरी १९१९ ई०।
[6] ईश्वरी प्रसाद शर्मा—'मर्यादा', नवम्बर १९१२ ई०।
[7] पण्डित रुद्रदत्त भट्ट—'मर्यादा', अप्रैल १९१४ ई०।
[8] गङ्गाधर पन्त—'सरस्वती', जनवरी १९१५ ई०।
[9] गोपालदामोदर तामस्कर—'सरस्वती', जनवरी १९१५ ई०।
[10] रमाशंकर अवस्थी—'मर्यादा', सितम्बर १९१६ ई०।
[11] नारायण प्रसाद अरोड़ा—'सरस्वती', जून १९१३ ई०।
[12] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जनवरी १९०६ ई०।
[13] गोपाल दामोदर तामस्कर—'सरस्वती', अक्टूबर-नवम्बर १९२४ ई०।

की भावना से प्रेरित होकर, जनता को प्राचीन भारतीय समाज तथा विदेशी समाज की विशेषताओं का उद्घाटन कर, उनको अपनाने की ओर सूक्ष्म सङ्केत मिलता है।

समाज-सुधार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि समाज के व्यक्तियों को उनकी वास्तविक दयनीय अवस्था से परिचित कराया जाय। साधारण जनता के हृदय पर प्रभाव डालने के लिए, पतनोन्मखी प्रवृत्तियों तथा अन्धकार के गर्त्त की ओर ले जाने वाली रूढ़ियों को अपनाने से उसकी क्या दशा है, इसका खुला हुआ चिट्ठा उसके सामने रखना आवश्यक हो जाता है। इस के अतिरिक्त उसे अन्धकार से निकाल कर प्रकाश युक्त मार्ग भी दिखाना चाहिए तथा निराशा के स्थान पर आशा से युक्त कर कर्तव्य पालन के लिए प्रोत्साहन भी देना चाहिए। कहना न होगा कि द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने समाज-सुधार की भावना से प्रेरित होकर, जहाँ-कहीं लिखा है, उक्त विशेषताएँ देखने को मिलती हैं। उन्होंने तत्कालीन समाज का नग्न चित्र अङ्कित कर उचित मार्ग के अनुसरण का सङ्केत भी किया है।

धार्मिक परिस्थिति

जब किसी राष्ट्र या जाति में नया जीवन, नवीन चेतना का आविर्भाव होता है, तो वह केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती, वह राष्ट्रिय जीवन के प्रत्येक अङ्ग, प्रत्येक पहलू पर अपना प्रभाव डालती है। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रिय चेतना का आरम्भ राजनीतिक क्षेत्र से ही हो, वह राष्ट्रिय जीवन के किसी भी पहलू से हो सकती है। हमारी वर्तमान राष्ट्रिय चेतना का श्री गणेश धार्मिक और सामाजिक सुधारों से हुआ। भारत में अँगरेजों का आधिपत्य-स्थापन होने के साथ-साथ ईसाई धर्म के प्रचार का भी कार्य चल रहा था। सन् १८१३ के आज्ञा-पत्र के अनुसार ईसाई धर्म-प्रचारकों को भारत में अपने धर्म का प्रचार करने की आज्ञा मिल गयी थी जिससे यहाँ ईसाई धर्म का बड़े उत्साह के साथ प्रचार आरम्भ हो गया था।

भारतीय जीवन में धर्म को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, धार्मिक हस्तक्षेप यहाँवालों के असह्य है। सन् १८५७ की क्रान्ति के पश्चात् भारतीयों को यह अनुभव होने लगा था कि अँगरेज उनकी सामाजिक और धार्मिक कमजोरियों का पूरा-पूरा लाभ उठा रहे हैं। अतएव भारतीयों का ध्यान अपने धर्म की रक्षा की ओर गया। ऐसे विद्वानों में राजा राममोहन राय का नाम सर्व प्रथम आता है। उस समय के हिंदू धर्म के विकृत रूप एवं कुण्ठित गति

की ओर सर्व प्रथम ध्यान जाने का श्रेय इन्हीं को दिया जाता है। राजाराम मोहन पश्चिमी ज्ञान से नवीन दृष्टि प्राप्त कर, धार्मिक आचार-विचार में क्रांति कर भारतीय धर्म का नवनिर्माण करना चाहते थे। सन् १८२८ में इन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना की। परन्तु इन्होंने ईसाइयत के विरोध में हिंदू-समाज की रक्षा करने के लिए जो सुदृढ़ बाँध बनाया था, वह कालान्तर में ईसाइयत के प्रबल प्रवाह में स्वयं बह गया। ब्रह्मसमाज ने केशवचन्द्र सेन के परामर्श से, सन् १८७२ में 'स्पेशल मैरिज एक्ट' पास होने पर, जो प्रार्थना पत्र भेजा था, उसमें स्पष्ट लिखा था कि ब्रह्मसमाजी हिंदू नहीं हैं। जो सम्प्रदाय हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए बना था, उसे अपने को हिंदू कहना भी बुरा लगने लगा। यह ब्रह्म समाज बंगाल तक ही सीमित रहा, परन्तु शिक्षित हिन्दुओं पर उस का प्रभाव समस्त भारत में पड़ा। महाराष्ट्र में इस समय जो धार्मिक-सामाजिक सुधारों की लहर उठी, उसने पूना के प्रार्थना समाज (११६७ ई०) को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द ने सन् १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना की।

धर्म भारतीय समाज का हृदय है। पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर हमारे यहाँ नास्तिकवाद और पाखण्डवाद के प्रबल झोंके ने भी हिंदू धर्म की नींव हिलाने के प्रयत्न में उसे झकझोर डाला। ऐसे समय में उसकी रक्षा के लिए ब्रह्मसमाज ने एकेश्वरवाद की स्थापना कर, नवशिक्षित युवकों को उचित मार्ग का प्रदर्शन कर, उन्हें ईसाई होने से बचा लिया। परन्तु ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज का कार्यक्रम शिक्षित वर्ग तक ही अधिक सीमित रहा, साधारण जनता पर उनका विशेष प्रभाव न पड़ा। अतएव उस समय एक ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो भारतीय जनता को विदेशी अन्धड़ से बचाकर भारतीयता के रंग में रँग दे। यह कार्य उचित समय पर आर्यसमाज द्वारा ही हुआ

स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म के लिए वही कार्य किया जो मार्टिन लूथर ने ईसाई धर्म के लिए किया। उन्होंने धर्म के वाह्य आडम्बरों का खुलकर विरोध किया और वेदों को ईश्वरीय ज्ञान का अगाध सागर बताया। उन्होंने सत्य को ग्रहण करने एवं असत्य को त्याग करने का नारा लगा कर वेदों की ओर लौटने का जयकार घोषित किया। स्वामी दयानन्द की दृष्टि एकाङ्गी न होकर अत्यन्त व्यापक और उदार थी। उनका उद्देश्य हिन्दू जति का उद्धार और उत्कर्ष था जिनमें कारण-कार्य रूप में धर्म, समाज, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी का आ जाना अनिवार्य सा था।[1] आर्यसमाज ने बड़ी

[1] 'आधुनिक काव्य-धारा का सांस्कृतिक स्रोत'—डा० केसरी नारायण शुक्ल।

दृढ़ता से हिन्दुओं के सामने प्राचीन गौरव, धर्म, सभ्यता आदि को रख उन्हें स्वावलंबन की भावना प्रदान कर, मानसिक दासता के पञ्जों से मुक्त किया। थोड़े ही समय में समस्त उत्तरी भारत में उसका प्रचार हो गया और स्थान-स्थान पर शाखाएँ खुल गयीं। ब्रह्म समाज और आर्य समाज में केवल इतना ही अंतर है कि प्रथम ने अपना आन्दोलन पाश्चात्य विचार-धारा की भित्ति पर खड़ा किया और द्वितीय ने शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण को अपनाया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के निमंत्रण पर सन् १८७६ में थियासोफिकल सोसाइटी[1] के दो संस्थापक मैडम ब्लेवेटस्की और कर्नल अल्काट भारत में आये। इस सोसाइटी का मुख्य उद्देश्य विश्व के समस्त धर्मों में एकता देखना है। इस सोसाइटी के उद्देश्य के अनुसार संसार और मानव जाति का विकास, विकास की दैवी योजना के अनुसार होता है तथा समस्त धर्म ईश्वरीय योजना के आधार पर स्थित है और उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं हो सकता। विश्वव्यापी मातृभाव का उपदेश देते हुए इस सोसाइटी ने हिन्दुओं को सुझाया कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म अन्य धर्मों से कम गौरवशाली नहीं है। इस सोसाइटी के द्वारा हिन्दू धर्म की अनेक रूढ़ियों की वैज्ञानिक व्याख्या हुई जो केवल विश्वास के कारण मानी जा रही थीं। सन् १८८३ में एनीबीसेण्ट भारत में आयीं। उन्होंने काशी में सेण्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना कर, हिन्दुओं में धर्म-जाग्रति और राष्ट्रभक्ति पैदा करने का प्रयत्न किया। कर्नल अल्काट का झुकाव बौद्ध धर्म की ओर अधिक था परन्तु एनी बेसेण्ट कृष्णभक्त थीं। इस सोसाइटी के विदेशी विद्वानों द्वारा भारतीय लोग अपने धर्म की प्रशंसा सुन, यह विश्वास करने लगे थे कि उनका हिन्दू-धर्म अन्य धर्मों से पिछड़ा नहीं है वरन् उनसे श्रेष्ठ है।

ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज के आन्दोलन उदारता एवं सुधार की दृष्टि से बहुत अग्रगामी थे, वे तर्क के आधार को मानकर चलनेवाले थे। वे तर्क की कसौटी पर खरी न उतरने वाली रूढ़ियों एवं परम्पराओं से हिन्दू धर्म को मुक्त करना चाहते थे। परन्तु रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, थियासोफी आदि आन्दोलन, धर्म में आन्तरिक सुधार चाहते हुए भी प्रचलित रूढ़ियों की एवं उनकी मर्यादा की रक्षा करना चाहते थे। वे इन रूढ़ियों की, तर्क एवं विज्ञान के सहारे, व्याख्या का समर्थन करते थे। सन् १८७३ में कलकत्ता में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए 'सनातन धर्म-रक्षिणी सभा' की स्थापना हुई

---

[1] **इसकी संस्थापना १७ नवम्बर १८७५ को अमरीका में हुई थी।**

थी किन्तु हिन्दू धर्म की पूर्ण रक्षा एवं उसका प्रबलतम समर्थन श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि द्वारा ही हुआ। श्री रामकृष्ण परमहंस ने 'सेवा धर्म' का प्रचार किया। उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा कि सब धर्म सच्चे हैं और एक ही उद्देश्य की पूर्ति के विभिन्न साधन हैं। रामकृष्ण परमहंस के प्रिय शिष्य विवेकानन्द ने वेदान्त धर्म का देश-विदेश में प्रचार किया और भारतीय धर्म को सब धर्मों से श्रेष्ठ बतलाया। इनके अतिरिक्त स्वामी रामतीर्थ का भी नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने प्रभावशाली भाषणों और लेखों से देशपूजा और राष्ट्र-धर्म का प्रचार किया। इन विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वेदान्तधर्म एवं तत्वज्ञान, केवल हिन्दुओं का नहीं, समस्त मानव जाति का कल्याण करने में समर्थ है।

इन धार्मिक आन्दोलनों का जनता पर यथेष्ट रूप में प्रभाव पड़ा। यद्यपि भारत की अधिकांश जनता सनातनधर्मी है, परन्तु इन आन्दोलनों के प्रभाव से उसकी बाह्याडम्बरप्रियता बहुत कुछ कम हो गयी। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यह जिज्ञासा होने लगी थी कि प्रत्येक रूढ़ि के अपनाये जाने का क्या कारण है। वे प्रत्येक रूढ़ि एवं परम्परा को सन्देह की दृष्टि से देख विज्ञान एवं तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयत्न करने लगे। इसके अतिरिक्त सङ्कीर्णता को धर्म के क्षेत्र से बाहर निकालने का भाव लोगों में उत्पन्न हो गया था। हिन्दू जनता अन्य धर्मों को सशंकित होकर देखने की प्रवृत्ति तथा उनसे द्वेष रखने की भावना को छोड़, उनको प्रेम तथा सम्मान की दृष्टि से देखने लगी थी।

निबन्धों में धार्मिक भावना

साहित्य का क्षेत्र भी धार्मिक आन्दोलनों से अछूता न रहा। साहित्यकारों ने भी अपनी लेखनी द्वारा हिन्दू-धर्म की रक्षा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचारों का खुल कर विरोध किया; अन्धविश्वास तथा परम्पराओं की बेड़ियों को काट कर भारतीय धर्म को मुक्त कर दिया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों की रचना हिन्दी (आर्य-भाषा) में कर उसके कलेवर की श्री-वृद्धि की। पण्डित श्रद्धाराम ने सनातन धर्म का पक्ष लेकर, पुराणों के आधार पर हिन्दू धर्म के महत्व का प्रतिपादन 'सत्यामृत-प्रवाह' में किया है। इन धार्मिक नेताओं के अतिरिक्त साहित्यिक व्यक्तियों ने भी धर्म सम्बन्धी भावनाओं को निबन्धों में प्रश्रय दिया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनमें से अग्रगण्य हैं। 'ईश्वर का वर्तमान होना', 'हम मूर्ति-पूजक हैं', 'श्रुति रहस्य', 'ईसू खीष्ट और ईश कृष्ण' आदि निबन्धों में उनकी धर्म-

सम्बन्धी विचारधारा देखने को मिलती है। उनके समकालीन लेखक तो उन्हें आर्यवंश के रक्षक के विशेषण से युक्त कर सम्बोधित करते थे। प्रताप नारायण मिश्र ने अपने एक निबन्ध में इसी भाव पर प्रकाश डाला है—

"हमारे भारतेन्दु क्या दस पाँच कोठियों के स्वामी न बन सकते थे, सरकार के यहाँ से सी० एस० आई० अथवा आनार्यरी मजिस्ट्रेट न हो सकते थे? पर उन्हें तो यह धुन थी कि आर्यवंश हमारे होते डूबने न पावे। इसीलिए अपना बहुत सा धन, बहुत सा समय, बहुत सा सुख त्याग दिया, बहुतेरों की गालियाँ सहीं, और हमारी ही चिन्ता की चिता पर सो गये।"[1]

भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकार पण्डित बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में भी कहीं-कहीं उनके धर्म सम्बन्धी भावोद्गार देखने को मिलते हैं—

"सनातन धर्म वाले उपदेश देते हैं, बाप दादा की लीक पीटते जाओ, यहीं सम्पूर्ण वेद-शास्त्र का निचोड़ है, हिन्दू धर्म का सारांश है। हमारा उपदेश है बाप दादा की लीक पीटने के बराबर कोई पाप नहीं है। यह सनातन धर्म नहीं है वरन् प्रचलित बुराइयों को भला काम समझ उसको जारी रखने के लिए छोटे बड़े सबों को अपने चंगुल में रखने का सहज लटका है। ब्राह्मणों के लिए छोटे बड़े सबों को अपने चंगुल में रखने का सहज लटका है।"[2]

एक दूसरे स्थान पर हिन्दू धर्म के विषय में वे लिखते हैं—

"आजकल के संशोधक रूखी तबियत वाले जिनमें प्रेम और भक्ति का कहीं स्पर्श भी नहीं है, उन्हें चिरकाल का प्रचलित वर्तमान हिन्दूधर्म सब ओर से दम्भ ही दम्भ जँचता है। कदाचित ऐसा हो भी क्योंकि मज़हब के साथ मक्कारी ने अपना घनिष्ट सम्बन्ध जोड़ रखा है, पर धर्म सम्बन्धी सब दम्भ ही दम्भ है, हम ऐसा कभी भी न मानेंगे"[1]।

प्रतापनारायण मिश्र के निबन्धों में भी धर्म सम्बन्धी विचार यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। 'देवमन्दिर के प्रति हमारा कर्तव्य', 'शिवमूर्त्ति' आदि निबन्धों में इनकी धार्मिक विचारधारा से परिचित होने के लिए पर्याप्त सामग्री मिल जाती है। "एक बार कलकत्ते के हाईकोर्ट में किसी जज ने शालग्राम की मूर्त्ति मँगवाई थी इस पर प्रतापनारायण बिगड़ उठे थे। आपने कई लेख इस बात के खिलाफ लिखे थे।"[2] इससे ज्ञात होता है कि

---

[1] बलि पर विश्वास—'निबन्ध-नवनीत' में संगृहीत, पृ० १३७।

[2] 'उपदेशों की अलग-अलग बानगी'—'भट्ट निबन्धावली' में संगृहीत, पृ० २३।

[3] 'विश्वास'—बालकृष्ण भट्ट, 'भट्ट निबन्धावली' में संगृहीत, पृ ३७।

[4] 'निबन्ध-नवनीति'—भूमिका, पृ० १६।

सनातन धर्म की ओर इनका अधिक झुकाव था। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और वदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के निबन्धों में भी कहीं-कहीं धर्म सम्बन्धी विचार देखने को मिल जाते हैं।

द्विवेदी-युगीन निवन्धकारों ने भी धार्मिक भावना को अपने निवन्धों में प्रश्रय दिया है। इन निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि लेखकों का उद्देश्य किसी विशेष धर्म का प्रचार न होकर पाठकवर्ग को धर्म के वास्तविक तथा मूल अर्थ को समझाना ही रहा है। 'मिश्रबन्धु' 'हिन्दूधर्म' निबन्ध में लिखते हैं—

'आजकल हमारे यहाँ पठित समाज तक में स्वधर्म विषयक तत्वों और रहस्यों का ऐसा घोर अज्ञान फैला हुआ है कि हम जैसे अल्पज्ञों को भी उसके विषय में कुछ कहने का साहस हुआ। एक वार लीडर पत्र ने हिन्दू-धर्म के मुख्य सिद्धान्तों के विषय में पण्डित समाज का मत माँगा था। उसके उत्तर में प्रायः बीस महाशयों ने छोटे-छोटे लेख भेजे जो उक्त पत्रकार ने पुस्तकाकार छापे। उसके देखने से विदित होता है कि हिन्दुओं ही में अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं मुख्यताओं के विषय में बड़ा मतभेद है।"[१]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन साहित्यकार धर्म के मूल-भूत सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न करता है। वह धर्म के अन्य पचड़ों में न तो स्वयं फँसना चाहता है और न पाठक को उनमें फँसा हुआ देखना चाहता है।

इस युग की धार्मिक भावना का दूसरा रूप वहाँ देखने को मिलता है जहाँ हिदू-धर्म की अनेक संस्थाओं में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। उस युग के निवन्धकारों ने राष्ट्र तथा जनता के हित के लिए विभिन्न सम्प्रदायों में सामञ्जस्य स्थापित करना आवश्यक समझा, क्योंकि उन्हें भय था, यदि भारतीय इस समय मतमतान्तरों के झगड़े में फँस गये तो उनकी उन्नति के मार्ग में वाधा पड़ेगी और उनके विकास की गति कुण्ठित हो जायगी। पण्डित पद्मसिंह शर्मा इसी मेल की भावना से प्रेरित होकर लिखते हैं—

"सनातनी भाइयो! तुम्हारी दृष्टि में स्वामी दयानन्द ने कोई भूल की हो तो उसे भूल जाओ, और उनके उपकारों को याद करो। धर्म, जाति और देश की रक्षा के लिए जो मार्ग उन्होंने सुझाये हैं, कृतज्ञतापूर्वक उनमें से

---

१ 'सुमनाञ्जलि'—प्रथम खण्ड, पृ० २१।

अपने अनुकूल उपादेय अंशों को अपनाओ, आँखें खोलो, और समय को देखो। मेल में मुक्ति और विरोध में विनाश है, इससे बचो और उसकी ओर बढ़ो"[१]।

द्विवेदी-युगीन निबन्धकार साहित्य की धारा को किसी सङ्कीर्ण क्षेत्र में प्रवाहित करना नहीं चाहते थे। धर्म को उन्होंने व्यापक अर्थ में ही अपनाया था। उन्हें यह विदित था कि समस्त धर्मों के मूल सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इसीलिए उनके निबन्धों में, संसार के अन्य धर्मों से द्वेष अथवा घृणा का भाव देखने को नहीं मिलता। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दू-धर्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने की भावना उनके निबन्धों में कहीं-कहीं देखने को अवश्य मिलती है। हिन्दू-धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा उच्च आसन प्रदान करने की भावना से युक्त होकर 'पाश्चात्य देशों को हिन्दू-धर्म का सन्देश',[२] 'स्वामी विवेकानन्द और आधुनिक संसार',[३] 'बाइबिल में वेदान्त शिक्षा'[४] आदि निबन्धों की रचना हुई।

द्विवेदी-युग में धर्म-विषयक निबन्ध अधिक संख्या में देखने को नहीं मिलते। इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय के साहित्यकारों की रुचि धर्म की ओर अधिक न होकर समाज की ओर ही अधिक थी। इस समय के धर्म-विषयक निबन्धों के अन्तर्गत 'हिन्दुत्व तथा हिन्दू-धर्म'[५] 'एशिया की धार्मिक एकता',[६] 'यूनानी राजदूत और वैष्णव-धर्म',[७] 'धर्म',[८] 'धर्म की परिवर्त्तनशीलता',[९] आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में 'धर्म' शब्द को व्यापक अर्थ में ही अपनाया गया है।

इस युग के धर्म विषयक निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि उसमें धर्म के तत्वों की गूढ़ व्याख्या न कर सरल तथा सीधी व्याख्या करने का ही

---

[१] 'पद्म-पुराण', पृ० २२।

[२] राधाकमल—'मर्यादा', जुलाई १९१७।

[३] हर्ष देव ओली—'सरस्वती', जुलाई १९२४।

[४] लक्ष्मीधर—'सरस्वती', दिसम्बर १९१३।

[५] भाई परमानन्द—'सरस्वती', जुलाई १९२४।

[६] सत्य देव—'सरस्वती', नवम्बर १९२२।

[७] गौरी शङ्कर हीरा चन्द्र ओझा—'मर्यादा', दिसम्बर १९१०।

[८] रूप नारायण पाण्डेय—'इन्दु', जनवरी १९१५।

[९] शीतला सहाय—'प्रभा', (कानपुर), अक्टूबर १९२०।

प्रयत्न अधिक किया गया है। काल एवं परिस्थितियों के अनुसार धर्म के स्वरूप में परिवर्तन कर लेने की ओर भी सङ्केत मिलता है। इनमें शास्त्रानुमोदित प्रथाओं के अपनाने तथा बुढ़ियापुराण के कारण प्रचलित कुरीतियों के त्याग करने के लिए उचित उपदेश भी है। पश्चिमी विद्वानों के इस आक्षेप को, कि 'हिन्दू धर्म मृत रीतियों का धर्म है' मुँहतोड़ उत्तर देने का प्रयत्न भी किया गया है।

आर्थिक परिस्थिति

भारत में अँगरेजों का पदार्पण व्यापार के हेतु हुआ था, परन्तु अनुकूल परिस्थितियों के कारण एक विशाल साम्राज्य की स्थापना करने में वे सफल हुए। अँगरेजों के कार्य-कलापों को देखकर यह कहना पड़ता है कि वे शासक की अपेक्षा व्यापारी ही अधिक थे। साम्राज्य-लोभ से कहीं अधिक व्यापार-लोभ उनकी नस-नस में व्याप्त देखने को मिलता है। अतएव अँगरेज शासकों की आर्थिक नीति भारत के लिए अहितकर सिद्ध हुई। उनकी आर्थिक नीति के वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि तत्कालीन भारत को कृषि, व्यापार और उद्योग-शिल्प की दयनीय अवस्था पर कुछ प्रकाश डाला जाय। सर्वप्रथम हम कृषि के प्रति बर्ती जाने वाली आर्थिक नीति का उल्लेख करेंगे। अँगरेजों ने कृषि सम्बन्धी जो नियम बनाये, उनको दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, प्रथम जिनमें बृटिश राज्य की आय-वृद्धि को लक्ष्य में रखा गया था और द्वितीय जिनमें कृषक जनता को सुविधाएँ देने का प्रयत्न किया गया था।

सन् १७९३ में बङ्गाल में मालगुजारी के विषय में स्थायी प्रबन्ध कर दिया गया, जिससे सरकार उस समय की आय का नब्बे प्रतिशत (९०%) लेती थी। बङ्गाल, बिहार को छोड़ कर अन्य प्रान्तों में स्वार्थ की प्रेरणा के वशीभूत होकर अस्थायी प्रबन्ध ही रखा गया। किसानों की दशा दिन-प्रति दिन भूमि करों के बढ़े-चढ़े होने के कारण दयनीय होती जा रही थी। सन् १८३७ में तथा उसके पश्चात् देश में कई भीषण अकाल पड़े जिनसे जनता में चारों ओर हाहाकार मचा था। सन् १८६६ में बङ्गाल और बिहार में अकाल पड़ने पर सरकार ने 'भारतीय कृषि-विभाग' की स्थापना की, पर उससे भारतीय जनता को अधिक लाभ न पहुँचकर विदेशी पूँजीपतियों को ही विशेष लाभ हुआ। इस संस्था के अतिरिक्त कृषि में उन्नति करने के लिए अनेक संस्थाओं का जन्म हुआ परन्तु भारतीय जनता को उनसे पूरा-पूरा लाभ न हो सका। सन् १८३३ में भूमि की उन्नति के लिए और सन् १८८४ में किसानों की सहायता करने

के लिए कानून बने। सन् १६०४ में सहकारी बैंकों के सम्बन्ध में कानून पास हुआ। कृषि में उन्नति करने के लिए सिंचाई आदि के विषय में भी सरकार का ध्यान आकर्षित हो चुका था। अतएव सन् १६०३ के सिंचाई-कमीशन की रिपोर्ट के पश्चात् नहरें और तालाब बनवाने की योजना का आरम्भ हुआ।

उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिक आविष्कारों की दौड़ में भारत बहुत पीछे छूट गया। कम्पनी का शासनकाल भारत के औद्योगिक ह्रास की करुण कहानी कह रहा है। उसकी घातक व्यापारी नीति के कारण भारत की जनता के जीवन का एक मात्र अवलम्बन कृषि ही रह गयी। भारतीय नेताओं से देश की वास्तविक अवस्था छिपी न थी, अतएव उनका ध्यान इस ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था। भारत की आर्थिक अवस्था को समझने का सर्वप्रथम प्रयत्न दादाभाई नौरोजी ने किया। इनके पहले राजा राम मोहन राय आदि नेताओं का ध्यान इस ओर अवश्य गया था, परन्तु अँगरेज़ों की घातक अर्थ-नीति को वे अधिक न समझ सके। आर्थिक साम्राज्यशाही का क्या रूप है और राष्ट्र का रक्त-शोषण किस प्रकार होता है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान दादा भाई को ही सर्वप्रथम हुआ था। उनके विचार में भारत के द्रव्य अपहरण के दो रूप थे—एक, राजनीतिक और दूसरा, व्यापारिक। योरोपियन अधिकारी वर्ग के, जो भारत में नियुक्त था अथवा भारत के लिए, इँगलैण्ड में नियुक्त था, वेतन का रुपया भारत में खर्च न होकर इँगलैण्ड में खर्च होता था। यह भारत के द्रव्य अपहरण का राजनीतिक स्वरूप था। इसके अतिरिक्त अँगरेजों की व्यापारिक नीति ने भारत के उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया था। बाजारों में भारतीय माल के स्थान पर विदेशी माल की भरमार थी। अतएव इस तरह व्यापारियों द्वारा भी भारत की सम्पत्ति इँगलैण्ड को चली जा रही थी।

सन् १८६७ में दादाभाई नौरोजी ने यह दिखाया कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक औसत आय ४० शिलिङ्ग अथवा बीस रुपया है। इस के पश्चात् सन् १८७१ में ग्राण्ट डफ ने 'हाउस आफ कामंस' के सामने इसी का समर्थन करते हुए कहा कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति की वार्षिक औसत आय दो पौंड है। इसके अनन्तर सन् १८८० में अकाल कमीशन ने भारत की कृषि से होने वाली उपज का हिसाब लगाया जिससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारत में पैदा किया हुआ अन्न भारतीयों के लिए ही पर्याप्त न था। सन् १६०१ में लार्ड कर्जन ने कहा कि प्रत्येक भारतीय की वार्षिक आय तीस रुपये के लगभग है। इन उदाहरणों से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि तत्कालीन भारत की आर्थिक अवस्था कैसी शोचनीय हो रही थी।

भारत की व्यापारिक स्थिति दिन प्रति दिन बुरी होती जा रही थी। मशीनों द्वारा तैयार किये गये माल ने भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट करने में कोई कसर बाकी न रखो थी। भारतीय नेताओं को यह बात बहुत ही अखर रही थी। स्व० महादेव रानाडे आदि सज्जनों के परिश्रम से सन् १८६० में 'औद्योगिक सभा' की स्थापना हुई; धीरे-धीरे औद्योगिक उन्नति के उपायों पर प्रत्येक प्रान्त में विचार किया जाने लगा। सन् १६०५ में स्वदेशी आन्दोलन हुआ जिसमें विदेशी माल का बायकाट किया गया; और भारतीय उद्योग–शिल्प की उन्नति के लिए सैकड़ों प्रयत्न किये गये। धीरे-धीरे अँगरेज सरकार का ध्यान भी इस ओर आकर्षित हुआ और सन् १६१३ में भारत की औद्योगिक दशा की जाँच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त हुआ। महायुद्ध के पश्चात भारत में औद्योगिक उन्नति के लिए योजनाओं का जाल सा बिछ गया।

निबन्धों में आर्थिक भावना

भारत की जनता ऐसी विषम आर्थिक परिस्थितियों से होकर गुजरने से असन्तोष की भावना से ओतप्रोत थी। शासक वर्ग को अपने प्रति उदासीन अथवा उपेक्षा के भाव से युक्त देखकर वह उद्विग्न हो उठती थी। प्रार्थना के पश्चात् आलोचना और आलोचना के बाद स्वावलम्बन की भावना अङ्कुरित होने लगी थी। साहित्यकार भी जनता की असन्तोष की भावना और दयनीय अवस्था की अवहेलना न कर सके। उन्होंने सरकार की आर्थिक नीति की कटु आलोचना भी की और जनता को भारतीय उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए उपदेश भी दिया। भारतेन्दु-युग के लगभग सभी निबन्धकार भारत की गरीबी पर आँसू बहाते हुए दिखाई देते हैं। पण्डित प्रतापनारायण मिश्र एक स्थान पर लिखते हैं—

"खेती की दशा पर हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है। जो चाहे दिहात में जाके देख ले, विचारे कृषिकारों के बारहों मास दिन रात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारि भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है।[1]

एक दूसरे निबन्ध में मिश्र जी ने देश के उद्योग-धन्धों के विषय में लिखा है—

[1] इनकमटैक्स–'निबन्ध-नवनीत' में सङ्गृहीत—पृ० ७४।

'पर खेद का विषय है कि हम अपने मुख्य निर्वाह की वस्तु के लिए भी परदेशियों ही का मुँह देखा करे। हमारे देश की कारीगरी लुप्त हुई जाती है, हमारा धन समुद्र पार खिंचा जाता है।[१]

इस तरह यह देखा जा सकता है कि उस युग के लेखकों में भारत की आर्थिक अवस्था छिपी न थी, उन्होंने स्पष्ट रूप से इस विषय में लिखा है और जनता को अपनी दशा सुधारने के लिए उचित उपदेश भी दिया है। बालकृष्ण भट्ट ने भी अँगरेजों की भारत के द्रव्य अपहरण वाली नीति की कटु आलोचना की है।[२] भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे सैकड़ों लेख मिलेंगे जिन में भारत की आर्थिक अवस्था नग्न रूप में अङ्कित की गयी है।

द्विवेदी-युग के निबन्ध-साहित्य को देखने से ज्ञात होता है कि लोगों में भारत की आर्थिक उन्नति करने की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी थी। पश्चिमी देशों में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी जिसके प्रभाव से भारत भी अछूता न बचा। अतएव भारतीयों ने भी अपनी आर्थिक अवस्था सम्हालने के लिए उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर ध्यान दिया। साहित्यकारों ने भी जनता को प्रोत्साहन देने के लिए उद्योग-शिल्प, कृषि, व्यापार आदि व्यवसायों से सम्बन्धित विषयों पर निबन्धों की रचना की। 'सरस्वती' के लेखों की विषय-सूची में, एक वर्ग कला-कौशल, व्यापार और व्यवसाय सम्बन्धी लेखों का मिलता है।

सामान्यतया अर्थ-विषयक निबन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, कृषि-व्यवसाय-सम्बन्धी; द्वितीय, व्यापार-सम्बन्धी और तृतीय, उद्योग-शिल्प-सम्बन्धी। कृषि से सम्बन्ध रखनेवाले निबन्धों में तत्कालीन किसानों की दयनीय अवस्था, उनकी निर्धनता के कारण तथा आर्थिक दशा सुधारने के उपाय बताये गये हैं। 'अमेरिका में कृषि-कार्य' निबन्ध में कृषकों की दुरवस्था पर प्रकाश डालते हुए पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उनकी ग़रीबी के कारणों का भी उल्लेख किया है--

"भारतवर्ष में कृषकों की दुरवस्था और निधनता के कई कारण हैं। एक तो यहाँ किसानों में शिक्षा का अभाव है। दूसरे यहाँ की गवर्नमेंट ने

[१] 'देशी कपड़ा', 'निबन्ध-नवनीत' में सङ्गृहीत, पृ० ७९।

[२] 'दो वर्ष के लिए चिउँटिया ढोअन बन्द हो जाय और यहाँ का धन यहीं रहने पावे, देश का देश सोने चाँदी से मढ़ जाय'—ढोल के भीतर पोल—'भट्ट-निबन्धावली' में सङ्गृहीत, पृ० ८९।

देश के कुछ अंशों को छोड़कर अन्यत्र सभी कहीं भूमि को अपने अधिकार में कर रखा है। वही उसकी मालिक बनी बैठी है। अतएव उसने भूमि के लगान और मालगुजारी के सम्बन्ध में जो कानून बनाये हैं वे बहुत ही कड़े हैं। फिर जहाँ कहीं तअल्लुकेदारियाँ हैं वहाँ किसानों के सुभीते का कम, तअल्लुकेदारों के सुभीते का अधिक ख़्याल रक्खा गया है। यही सब कारण हैं जो किसानों को पनपने नहीं देते।"[1]

इससे ज्ञात होता है कि किसानों की दुरवस्था का बहुत कुछ कारण अँगरेज सरकार ही समझी जाती थी। किसानों की इस दशा में सुधार करने के लिए भी उस युग के लेखकों ने मार्ग सुझाये हैं—

"जो लोग साधन सम्पन्न हैं और जिनके पास ज़मीन है उन्हें दूसरों की गुलामी न करके, नये ढंग से खेती करना चाहिए। जब तक पढ़े-लिखे भारत-वासी इस ओर ध्यान न देंगे, या कृषक-मण्डली में कृषि-विषयक शिक्षा का प्रचार न होगा तब तक इस देश का दारिद्रय भी दूर न होगा।"[2]

देश को समृद्धशाली बनाने के लिए कृषि की उन्नति को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। पश्चिमी देशों की तरह वैज्ञानिक ढंग से खेती करना तथा कृषकों में कृषि-विषयक शिक्षा के प्रचार की अत्यधिक आवश्यकता समझी जाती थी। देश-भक्तों की किसानों की ओर से उदासीनता उसे बहुत ही अखरती थी और उसके मुख से अनायास ही यह निकल पड़ता था—

"यदि देश-भक्ति का अर्थ देश में रहनेवालों पर भक्ति करने से है, तो देशवासियों में अधिक सङ्ख्या किसानों की है। परन्तु देश की उन्नति के लिए अब तक जो प्रयत्न किया गया है और इस समय भी जो किया जा रहा है, उससे कितने का सम्बन्ध किसानों से है? हर साल जो यह काँग्रेस होती है, उसने आजतक किसानों पर कितनी भक्ति प्रकट की है?"[3]

उस युग के लेखक देश की वास्तविक उन्नति के लिए किसानों की उन्नति अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उनके निबन्धों में यही भावना प्रति-ध्वनित हो रही है। 'खेती की बुरी दशा'[4], 'कृषि विद्या के अद्भुत

---

१ 'अमेरिका में कृषि-कार्य'—'लेखाञ्जलि' में सङ्गृहीत, पृ० ११६।

२ 'अमेरिका में कृषि-कार्य'—पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी 'लेखाञ्जलि' में सङ्गृहीत, पृ० १२४।

३ 'देश-भक्ति की बात'—'विचार-विमर्श' में सङ्गृहीत, पृ० ४०२।

४ महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जुलाई १९१५।

आविष्कार'[१], 'क्या भारत की भूमि भी कामधेनु बन सकती है'[२], 'कृषि की उन्नति'[३], 'भारतीय किसानों के उद्धार के उपाय'[४], 'भारतीय किसान'[५], 'भारतीय किसान'[६], 'किसानों की उन्नति करे कौन ?'[७] 'कृषक समाज के प्रति शिक्षितों का कर्तव्य'[८] आदि निबन्धों में खेती तथा खेतिहरों की दयनीय दशा को दिखाकर, उसमें सुधार करने की ओर सङ्केत किया गया है।

एक समय भारत की बनी हुई वस्तुओं के लिए समस्त संसार लालायित रहता था। व्यापार के क्षेत्र में वह सिरमौर माना जाता था, परन्तु अँगरेजों की संरक्षकता में, विज्ञान के युग में बहुत पीछे छूट गया था जिससे दैनिक जीवन में काम आने वाली साधारण वस्तुओं के लिए उसे विदेशियों का मुँह जोहना पड़ रहा था। भारत का समस्त व्यवसाय विदेशियों के अधिकार में था, उसे देख कर साहित्यकार क्षुब्ध हो उठता था; वह कहता था कि यहाँ के प्रत्येक व्यवसाय का सञ्चालन भारतीयों द्वारा ही होना चाहिए। इसी भावना से प्रेरित होकर हरिहरनाथ लिखते हैं—

"विदेशी पूँजी के रहने से जितनी हानि है उससे कहीं अधिक हानि विदेशियों के हाथ में व्यवसाय होने से है। हमको केवल मजदूर न रहना चाहिए वरन् व्यवसाय के प्रत्येक अङ्ग का सञ्चालन करके उसका पूरा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसी प्रकार हमको केवल विदेशी व्यवसाय का नौकर न बनना चाहिए, वरन् व्यवसाय के मुनाफे का भागी भी होना चाहिए।"[९]

भारत के व्यवसायों को अवनति के गर्त में ढकेलने वाले अँगरेज ही थे। उन्होंने यहाँ की बाजारों में मशीनों द्वारा तैयार किये गये सस्ते माल को भर दिया जिससे हमारे सभी कारोबार धीरे धीरे बन्द होने लगे। यह रोग यहाँ तक बढ़ गया कि अपने शरीर को ढाँपने के लिए विदेशी वस्त्रों पर निर्भर

---

[१] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', मार्च १९०८।
[२] गंगा प्रसाद अग्निहोत्री—'माधुरी', जनवरी १९२४।
[३] कीचक—'सरस्वती', अप्रैल १९२१।
[४] ईश्वरदास मारवाड़ी—'सरस्वती', अगस्त १९१५।
[५] कृष्णानन्द जोशी—'सरस्वती', सितम्बर १९१५।
[६] जगन्नाथ प्रसाद मिश्र—'मर्यादा', फरवरी १९१७।
[७] गंगा प्रसाद अग्निहोत्री—'श्री शारदा', भाद्रपद संवत् १९८०।
[८] पण्डित रुद्रदत्त भट्ट—'इन्दु', अगस्त १९१५।
[९] हरिहरनाथ—'श्रीशारदा', वैसाख सं० १९८०।

होना पड़ा। इसी भाव के विषय में आचार्य द्विवेदी 'स्वदेशी वस्त्र के व्यापार में उन्नति' नामक निवन्ध में लिखते हैं—

"वस्त्र भी यहाँ पहले सब तरह के यथेष्ट मात्रा में तैयार होते थे। पर कूट नीति ही क्यों, स्पष्ट नीति ने भी उनका बहुत कुछ नाश कर दिया। अतएव तन ढकने के लिए हमें और देशों का मुँह ताकना पड़ा"[१]।

द्विवेदी-युग में व्यापार-विषयक अनेक निबन्ध लिखे गये जिनमें से, 'हिन्दुस्तान का व्यापार'[२], 'भारतीय आर्थिक और व्यापारिक स्थिति'[३], 'भारत की व्यापार नीति'[४], 'भारतवर्ष की गुप्त कालीन सामाजिक स्थिति'[५], 'बौद्ध भारत की आर्थिक दशा'[६] आदि उल्लेखनीय हैं। इन निबन्धों में भारत की प्राचीन व्यापारिक उन्नति का यदि एक ओर परिचय कराया गया है तो दूसरी ओर आधुनिक भारत की व्यापारिक अवनति पर भी प्रकाश डाला गया है।

प्राचीन काल में भारतीय शिल्पकला उन्नति के उच्चतम शिखर पर विराजमान थी। 'प्राचीन भारत में शिल्पकला'[७], 'ढाके की मलमल'[८] आदि निबन्धों में भारत की प्राचीन शिल्पकला पर ही प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु आधुनिक युग में उसकी शिल्पकला दिन-प्रति दिन विनष्ट होती जा रही है, इसको देखकर भारत के कर्णधारों के हृदय में क्षोभ उत्पन्न हुआ। उन्होंने विदेशी माल का विरोध तथा स्वदेशी माल के खरीदने तथा बनने पर बल दिया। देश की वास्तविक उन्नति के लिए भारतीय शिल्पकला में उन्नति करना आवश्यक है इसको बारम्बार दुहराया जाने लगा। मनोरथ जी 'भारतवर्ष की शोचनीय दशा' नामक निबन्ध में लिखते हैं—

"हिन्दू भाइयों को यह समय मतमतान्तर के झगड़ों में पड़ने का नहीं है और न सन्तोष का है और न वेदान्ती बनकर उदासीन होकर बैठने का है। भाइयो, ऐसे घोर काल में कुछ धार्मिक कार्य नहीं हो सकता, न वह शास्त्र

---

[१] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'विचार-विमर्श', में सङ्गृहीत, पृ० ३४४।

[२] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', अक्टूबर १९०७।

[३] रामकृष्ण शर्मा—'मर्यादा', मार्च १९१७।

[४] लक्ष्मीशङ्कर अवस्थी—'मर्यादा', अप्रैल १९१२।

[५] हरिरामचन्द्र—'सरस्वती', अक्टूबर १९१४।

[६] परमेश्वर प्रसाद वर्मा—'इन्दु', मार्च १९१४।

[७] दिनेश प्रसाद वर्मा, नन्दकुमारसिंह—'सरस्वती', मार्च १९१९।

[८] रामजीलाल शर्मा—'सरस्वती', नवम्बर १९०७।

विहित ही है। केवल देश बचाने के लिए जिस तरह हो सके, कटिबद्ध होकर यत्न करो। यह समय देश-विदेश व जाति-पाँति के विचार का नहीं है, सब का प्रायश्चित केवल मरते हुए देश भाइयों को बचाना ही परम धर्म है। यही सब का परम कर्त्तव्य है। जैसे हो सके वैसे शिल्प शिक्षा का प्रचार करो, जैसे बन पड़े वैसे कला-कौशल सीखने का यत्न करो। यही इसका उद्धार है और कुछ नहीं"[1]

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग में शिल्प-शिक्षा के प्रचार तथा कला-कौशल सीखने पर कितना बल दिया जाता था। उद्योग-शिल्प विषयक निबन्ध इस युग में बड़ी सङ्ख्या में लिखे गये, जिनमें 'हमारी शिल्पकला का ह्रास'[2], 'शिल्पकला तथा राष्ट्रीय धन'[3], 'भारत की अपनी शिल्प पद्धति'[4], 'ग्राम्य शिल्प का पुनरुत्थान'[5] आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त अँगरेजों ने भारत में उद्योग-धन्धों की शिक्षा का भी कोई विशेष प्रबन्ध न किया था। भारतीय नेताओं को यह अभाव बहुत ही खटक रहा था। 'भारत में औद्योगिक शिक्षा'[6], 'उद्योग धन्धे की शिक्षा'[7] आदि निबन्धों में इसी समस्या के सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। इन निबन्धों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भारत की आर्थिक उन्नति तब तक सम्भव नहीं है जब तक यहाँ उद्योग-शिल्प सम्बन्धी शिक्षा का प्रचार न होगा।

---

[1] 'भारतवर्ष की शोचनीय दशा'—मनोरथ, 'इन्दु,' कला ४, खण्ड २, किरण ६, पृ० ५४०।

[2] श्याम सुन्दर पाण्डेय—'मर्यादा', अप्रैल १९१९।

[3] परमेश्वर प्रसाद वर्मा—'इन्दु', दिसम्बर १९१४।

[4] पारसनाथ त्रिपाठी—'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण ५, संवत् १९७०।

[5] छविनाथ पाण्डेय—'साहित्य', कार्तिक संवत् १९७९।

[6] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', फरवरी १९१३।

[7] कृष्णानन्द जोशी—'सरस्वती', जुलाई १९१५।

चौथा अध्याय

निबन्धों के प्रकार

निबन्ध का विषय कविता की भाँति जीवन तथा जगत के किसी क्षेत्र से चुना जा सकता है। निबन्ध का क्षेत्र अत्यन्त विशाल एवं व्यापक है, विश्व में जितनी वस्तुएँ, भाव और क्रियाएँ हैं, उनमें से किसी को निबन्ध का विषय बनाया जा सकता है। निबन्ध के विषय के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह भौतिक जगत की वस्तु हो, कल्पना-जगत से सम्बन्धित मनोभावों पर भी निबन्धों की रचना की जा सकती है, भावसागर के प्रत्येक ऊर्मि निबन्ध का विषय बन सकती है तथा मस्तिष्क में उत्पन्न विचारों के प्रत्येक रूप पर निबन्ध लिखा जा सकता है। परन्तु इस विषय में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है लेखक का दृष्टिकोण। कोई निबन्धकार विषय के वर्णन करने में ही अपनी समस्त शक्ति का व्यय कर देता है, अन्य वर्ण्य वस्तु से सम्बन्धित भावोद्गारों के प्रकाशन में ही इतिश्री समझता है, तीसरा व्यक्ति वैज्ञानिक की भाँति अभीष्ट विषय के महत्व, गुण, रूप आदि से सम्बन्धित विचारों के प्रकाशन को ही अपना ध्येय बना लेता है। ऐसी दशा में निबन्धों के भेदों की सङ्ख्या निश्चित करना अत्यधिक कठिन है।

द्विवेदी-युग में विविध विषयों पर निबन्धों की रचना हुई जिससे हिन्दी-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग समृद्ध एवं परिपुष्ट होकर साहित्य के अन्य अङ्गों के समकक्ष रखने के लिए तथा उनसे होड़ करने के लिए प्रस्तुत हो गया। निबन्ध साहित्य के व्यापक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उनका प्रकार निर्धारण कर लिया जाय। निबन्धों का वर्गीकरण विद्वानों ने अनेक प्रकार से किया है, परन्तु वर्ग-विभाजन के लिए सामान्यतः तीन आधार कहे जा सकते हैं—१शैली, २विषय, ३स्वरूप। वर्गीकरण का एक चौथा आधार व्यक्तित्व भी कहा जाता है और उसके आधार पर व्यक्ति प्रधान[1] तथा

[1] Personal Essays.

विषय-प्रधान[१] नामक निबन्धों के दो भेद किये जाते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वानों को यह विभाजन मान्य नहीं, क्योंकि व्यक्तित्व का समावेश लेखक की शैली के अन्तर्गत ही मान लिया जाता है। शैली के आधार पर निबन्धों को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—१ वर्णनात्मक, २ विवरणात्मक, ३ भावात्मक और ४ विचारात्मक। इनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

वर्णनात्मक निबन्ध

वर्णनात्मक निबन्धों में विषय का तटस्थ तथा निर्लिप्त भाव से वर्णन करना ही प्रमुख लेखक का उद्देश्य होता है; विषय से सम्बन्धित विचारों तथा भावोद्गारों का प्रकाशन नहीं। जगत के वाह्य सौन्दर्य तथा प्रकृति के मनोरम दृश्यों तथा व्यापारों के वर्णन करने में ही उसकी वृत्ति अधिक रमती है। मनुष्य द्वारा निर्मित अथवा किसी भी प्राकृतिक वस्तु के विषय में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा उसके अपने अनुभव, वर्णन कार्य में उसके विशेष सहायक होते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में मस्तिष्क अथवा तर्क से अधिक काम न लेकर नेत्रेन्द्रिय तथा कल्पना का ही अधिक सहारा लिया जाता है।

वर्णन दो प्रकार का होता है—१ स्थूल और २ सूक्ष्म। स्थूल वर्णन में लेखक वर्ण्य वस्तु को जिस रूप में देखता है उसका उसी प्रकार वर्णन करता है। इसमें कल्पना का अधिक सहारा न लेकर यथातथ्य वर्णन की ओर ही लेखक की रुचि अधिक होती है। पर सूक्ष्म वर्णन में लेखक कल्पना के स्वर्ण पङ्खों पर बैठ कर वर्ण्य-विषय का ऐसा हृदयग्राही तथा चित्त को चमत्कृत कर देने वाला वर्णन करता है जो पाठक को भी कल्पनालोक का प्राणी बना देता है। स्थूल वर्णन में पाठक की ज्ञान-वृद्धि तथा मनोरञ्जन पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है, परन्तु सूक्ष्म वर्णन में पाठक की कल्पनाशक्ति के विकास के साथ-साथ उसके हृदय को अभिभूत कर देने वाली भावना भी निहित रहती है। स्थूल वर्णन में यद्यपि यथातथ्य वर्णन करने का भाव अधिक रहता है, पर वर्णनकार, वर्ण्य विषय से सम्बन्धित उन्हीं उपादानों अथवा दृश्यों का सङ्कलन एवं चयन करता है जो पाठक के चित्त को अनुरञ्जित कर सकें; अन्यथा वह साहित्य की सीमा के अन्तर्गत स्थान न पा सकेगा। साधारणतया वर्णनात्मक निबन्धों का आरम्भ स्थूल वर्णन से होता है, परन्तु जैसे-जैसे निबन्धकार अभीष्ट विषय का विभिन्न दृष्टियों से वर्णन करने लगता है, कल्पना का पुट अधिक देता चलता है। दो-एक उदाहरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायगा। 'चित्तौड़-चर्चा' में चित्तौड़गढ़ का स्थूल वर्णन किया गया है—

[१] Impersonal Essays.

"चित्तौड़गढ़ अरावली पर्वत के एक शिखर पर बना हुआ है और कदाचित् भारतवर्ष का सबसे बड़ा किला है। इसकी लम्बाई लगभग पाँच मील और चौड़ाई दो मील है। राजपूताने के अन्य राज्यों के समान मेवाड़ की भूमि मरुभूमि नहीं है। राजपूताने में तो मेवाड़ ही हरा-भरा प्रदेश माना जाता है। अरावली की श्रेणियों के कारण चित्तौड़गढ़ के चारों ओर तो प्राकृतिक दृश्य और भी सुन्दर हो गया है। पर्वत-पुञ्जों के कारण जल की अधिकता, जल के कारण जलाशयों की अधिकता और जलाशयों के कारण वृक्षावली तथा कृषि की अधिकता से चारों ओर हरीतिमा का ही राज्य दिखलायी पड़ता है। वर्षा-ऋतु में तो फिर कहना ही क्या है!"[१]

इसी प्रकार 'किन्नर-जाति' नामक निबन्ध में किन्नर जाति का स्थूल वर्णन किया गया है—

"आचार की दृष्टि से ये लोग अपने पड़ोसी अन्य पहाड़ी लोगों से बहुत अच्छे हैं। शिमले के समीपवर्त्ती प्रदेश में सौ पीछे अस्सी स्त्रियाँ आचार हीना बतायी जाती हैं। पर किन्नर नारियों में इनकी सङ्ख्या बहुत कम है। सुनते हैं, पहले पति या प्रेमी के विश्वासघात करने और छोड़ कर भाग जाने पर अथवा किसी के झूठा लाञ्छन लगाने पर, किन्नर नारियाँ सतलज में कूद कर प्राण त्याग कर दिया करती थीं।"[२]

इस तरह हम देखते हैं कि जैसे-जैसे निबन्धकार वर्ण्य विषय को विभिन्न दृष्टियों से देखता है, सूक्ष्म वर्णन के अत्यधिक निकट आता-जाता है। द्विवेदी-युग में स्थूल वर्णन के अन्तर्गत आनेवाले अन्य प्रमुख निबन्ध 'जयपुर'[३], 'उदयपुर'[४], 'केनिया'[५], 'मंसूरी की सरसरी सैर'[६], 'नैपाल'[७], 'राजपूताने के भील'[८], 'आगरे की शाही इमारतें'[९] आदि हैं।

---

[१] गोविन्ददास—'श्री शारदा', वैसाख संवत १६८०, वर्ष ४, खण्ड १, सङ्ख्या १, पृ० ४८।

[२] सन्तराम बी० ए०—'साहित्य-सुधा' में सङ्कलित, पृ० २१।

[३] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', फरवरी १६०८।

[४] गोविन्ददास—'श्री शारदा', संवत् १६८०, वर्ष ४, खण्ड १, सङ्ख्या २।

[५] कुलदीप सहाय—'श्रीशारदा', सङ्ख्या ६, भाद्रपद संवत् १६८०।

[६] घुमक्कड़—'मर्यादा', जून-जुलाई, १६१२।

[७] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', १६०५, पृ० २६४।

[८] गङ्गासहाय—'सरस्वती', मार्च १६०७।

[९] महावीरप्रसाद द्विवेदी—'लेखाञ्जलि' में सङ्गृहीत, पृ० ८१।

कल्पना से अनुरञ्जित वर्णनात्मक निबन्धों के अन्तर्गत प्राकृतिक दृश्यों से सम्बन्धित निबन्धों की गणना की जाती है। इन निबन्धों में मनोरम तथा आह्लादकारी दृश्यों को जुटाने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणार्थ 'प्रकृति-सौन्दर्य' निबन्ध में प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन सूक्ष्म अनुभूति तथा कल्पना के आधार पर किया गया है—

"तुम्हारा समयानुकूल परिवर्त्तन भी कैसा सुन्दर होता है! ऋतु-विभाग के अनुसार वसन्त में कोमल ललित पत्तियों से सहकार वृक्षों को सुहावना बनाती हुई मधुर मञ्जरी तुम ही उत्पन्न करती हो। आहा! हा! हा! उस समय में तुम्हारी अद्भुत छटा देखने के योग्य होती है। कहीं परिमल रूप से बहती हुई शैवालिनी में विकसे हुए अरविन्दों पर मधुकर माला रस लेते हुए आनन्दोल्लास से गूँज रहे हैं, कहीं अर्द्ध प्रस्फुटित रक्त तथा कोमल पत्तियों सहित तरुण वृक्षों पर बैठे हुए रस मग्न कोकिल अपनी कुहुक सुनाते हुए कोमल डालियों को दोलायमान करते हैं, सुरम्य वन, कुञ्ज, लता, उपवन, पर्वत, तटी इत्यादि जहाँ दृष्टिपात करो उधर ही कुसुम पूरित डालियाँ दिखायी देती हैं।"[1]

इसी भाँति कृष्णबल्देव वर्मा के 'बुन्देलखण्ड पर्यटन' निबन्ध में कल्पना की सहायता से किया गया प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन मिलता है—

"निर्मल बेत्रवती पर्वतों को विदार कर बहती है और पत्थरों की चट्टानों से सम भूमि पर, जो स्वयं पथरीली है, गिरती है जिससे एक विशेष आनन्ददायक वाद्यनाद मीलों से कर्ण कुहर में प्रवेश करता है और जल कण उड़-उड़ कर मुक्ताहार की छवि दिखाते और रवि किरण के संयोग से सैकड़ों इन्द्रधनुष बनाते हैं। नदी की थाह में नाना रङ्ग के प्रस्तरों के छोटे-छोटे टुकड़े पड़े रहते हैं जिन पर वेग से बहती हुई धारा नवरत्नों की चादर पर बहती हुई जल धारा की छटा दिखाती है।"[2]

स्थूल वर्णन तथा सूक्ष्म वर्णन में भाषा-शैली में भी अन्तर हो जाता है जैसा कि ऊपर के उदाहरणों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। स्थूल वर्णन में वाक्य छोटे-छोटे तथा भाषा सरल और मुहावरेदार होती है। परन्तु सूक्ष्म वर्णन में भाषा तत्सम प्रधान तथा अलङ्कारों से युक्त हो अपनी छटा पर तरंङ्गित होती इतराती हुई चलती है। वाक्य भी अपेक्षाकृत कुछ बड़े होते हैं।

---

[1] जयशङ्कर प्रसाद—'इन्दु', श्रावण शुक्ल २, संवत् १९६६, पृ० ८-९।
[2] कृष्ण बल्देव वर्मा—'मर्यादा', जून १९१२।

विषय की दृष्टि से वर्णनात्मक निबधों के अनेक भेद तथा प्रभेद किये जा सकते हैं क्योंकि किसी भी प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक वस्तु को वर्णनात्मक निबन्ध का विषय बनाया जा सकता है। साधारणतया वर्णनात्मक निबन्धों को आठ भागो में विभाजित किया जा सकता है—१ जाति-वर्णन, २ नगर-वर्णन, ३ प्रदेश-वर्णन, ४ ऋतु-वर्णन, ५ यात्रा-वर्णन, ६ जीवन-चर्या अथवा दिन-चर्य्या-वर्णन, ७ पर्व-तीज-त्योहार-वर्णन, और ८ विविध वस्तु-वर्णन। जाति सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्धों में किसी विशेष जाति अथवा देश के निवासियों के रहन-सहन, आचार-विचार आदि का वर्णन रहता है। ऐसे निबन्धों की रचना पाठक के ज्ञान-विस्तार तथा मनोरञ्जन की दृष्टि से की जाती है। लेखक का प्रमुख उद्देश्य पाठक को किसी जाति-विशेष से परिचित कराना ही होता है। 'राजपूताने के भील',[1] 'कवँर जाति का गौरा त्योहार',[2] 'फीजी द्वीप के असभ्य निवासी',[3] 'काश्मीर और उसके निवासी'[4], 'मध्य प्रदेश के मूल निवासी और वहाँ की प्रचलित भाषा',[5] सिंहल द्वीप की रीत-नीति',[6] 'ध्रुवीय देश के वासी',[7] 'आधुनिक ईरानी स्त्रियाँ'[8] आदि जाति-सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्धों के अन्तंगत आयँगे। भौगोलिक दृष्टि से ये निबन्ध अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

नगर विषयक वर्णनात्मक निबन्धों में किसी प्रसिद्ध नगर की इमारतों तथा सुन्दर दृश्यों का वर्णन रहता है। ऐसे निबन्ध भी पाठक के ज्ञान-विस्तार की दृष्टि से लिखे गये हैं। 'लन्दन की सैर[9],' 'जयपुर[10],' 'जयपुर की सैर[11],'

---

[1] मनोहर दास वैष्णव—'सरस्वती', जनवरी १९१९।

[2] गङ्गा सहाय—'सरस्वती', मार्च १९०७।

[3] कृपा शंकर मिश्र—'सरस्वती', जुलाई १९०५।

[4] रामलाल पहारा—'प्रभा' (खण्डवा), पौष शुक्ल १, संवत् १९७०।

[5] पण्डित लोचन शर्मा पाण्डेय—'देवनागर', संवत् १९६४, पृ० ४४१।

[6] लक्ष्मण गोविन्द आठले—'श्री कमला,' सङ्ख्या ८, श्रावण संवत् १९७३।

[7] डा० महेन्दुलाल गर्ग—'काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', जुलाई १९०९।

[8] हृदय नाथ सप्रू—'मर्यादा', नवम्बर १९१६।

[9] वेणी प्रसाद शुक्ल—'सरस्वती', अप्रैल १९१९।

[10] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', फरवरी १९०८।

[11] केशवदयाल सिंह—'मर्यादा', जून १९१२।

'टोकियो की सैर[1],' 'मंसूरी की सरसरी सैर[2],' 'उदयपुर[3],' 'जयपुर[4],' 'बड़ौदा[5],' 'जगदीशपुरी,'[6] आदि निबन्धों की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जा सकती है। इन निबन्धों में स्थूल वर्णन वाली पद्धति ही विशेष रूप से अपनायी जाती है। यह निबन्ध पाठक के इतिहास तथा भूगोल विषयक ज्ञान की वृद्धि में विशेष रूप से सहायक होते हैं।

वर्णनात्मक निबन्धों का तीसरा वर्ग प्रदेश-सम्बन्धी वर्णनात्मक निबन्धों का कहा जा सकता है। इन निबन्धों में किसी देश की भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक परिस्थितियों का वर्णन रहता है। ये निबन्ध भी पाठक की ज्ञान-वृद्धि को दृष्टि में रखकर ही लिखे गये हैं। ऐसे निबन्धों में 'नैपाल'[7], 'यारकन्द'[8], 'चीन देश का विवरण'[9], 'कूर्माचल'[10], 'चीन'[11] आदि की गणना की जा सकती है। ये निबन्ध भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

ऋतु-वर्णन से सम्बन्ध रखने वाले वर्णनात्मक निबन्ध द्विवेदी-युग में बहुत कम सङ्ख्या में लिखे गये, क्योंकि लेखकों की दृष्टि कलात्मक साहित्य की रचना की ओर न होकर उपयोगी साहित्य के सृजन की ओर ही अधिक थी परन्तु ऋतुओं से सम्बन्धित जो कुछ भी निबन्ध लिखे गये हैं, अपना एक विशेष-महत्व रखते हैं। 'वर्षा',[12] 'वर्षा-विजय',[13] 'वर्षा ऋतु',[14] 'पावस',[15]

---

[1] रामचन्द्र (जापान प्रवासी)—'मर्यादा', जनवरी १९१३।

[2] घुमक्कड़—'मर्यादा', जून-जुलाई १९१२।

[3] गोविन्द दास—'श्री शारदा', वर्ष ४, खण्ड १, सङ्ख्या २, संवत् १९८०।

[4] कुमार प्रताप नारायण पुरोहित—श्री 'शारदा', वर्ष ४, खण्ड १, सङ्ख्या ३, संवत् १९८०।

[5] आनन्द प्रिय—'श्री शारदा', वर्ष ४, खण्ड १, सङ्ख्या ४, संवत १९८०।

[6] गोविन्द दास— ,, ,, ,, ,, ,,।

[7] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', १९०५, पृ० २६४।

[8] सन्तराम—'सरस्वती', एप्रिल १९२४।

[9] गोपालराम गहमरी—'मर्यादा', अक्टूबर १९१६।

[10] मनोरथ पाण्डेय—'इन्दु', जून १९१४।

[11] यदुनन्दन प्रसाद श्रीवास्तव—'श्री शारदा', आश्विन संवत् १९८०।

[12] राम सेवक पाण्डेय—'सरस्वती', अक्टूबर १९२१।

[13] लक्ष्मण गोविन्द आठले—'सरस्वती', अगस्त १९०८।

[14] द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी—'प्रदीप', मई-जून-जुलाई १९०४।

[15] जय नारायण मल्लिक—'लक्ष्मी', जून-जुलाई १९२२।

आदि निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत आयँगे। इन निबन्धों में स्थूल वर्णन वाली पद्धति को न अपना कर सूक्ष्म वर्णन वाली पद्धति को ही प्रयोग में लाया गया है। इन निबन्धों में लेखक की अनुभूति तथा कल्पना का अद्‌भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस युग में ऐसे उच्चकोटि के निबन्ध बहुत कम देखने को मिलते हैं। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि रीतिकाल में षट् ऋतु और बारहमासा का काव्य में अत्यधिक वर्णन हो चुका था, इसके अतिरिक्त काव्य में उन्हें उस युग में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता था। इसी से ऋतु-वर्णन को काव्य का विषय मान कर इस युग के निबन्धकारों ने उसे अधिक नहीं अपनाया।

पर्व-तीज-त्योहार विषयक निबन्ध भी इस युग में लिखे गये ऐसे। निबंधों में 'दीपावली',[१] 'होली',[२] 'विजयादशमी', [३] 'श्री कृष्ण जन्माष्टमी'[४] आदि उल्लेखनीय है। इन निबन्धों में लेखक की प्रचारात्मक अथवा उपदेशात्मक प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो उठती थी कि उनका यथोचित रीति से वर्णन न कर पाठक को प्रतिपादित विषय से शिक्षा ग्रहण कराने में ही अपनी समस्त शक्ति का व्यय कर देते थे। इन निबन्धों की दूसरी विशेषता यह है कि इनमें भारत के भव्य अतीत की ओर संकेत कर वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रदर्शित किया गया है।

यात्रा-वर्णन विषयक निबन्ध, द्विवेदी-युग में प्रचुर सङ्ख्या में लिखे गये। इन निबन्धों का भी प्रमुख उद्देश्य पाठकों का ज्ञान-विस्तार करना ही है। यात्रा में उसे जो सुन्दर सुन्दर दृश्य, महत्वपूर्ण स्थल आदि देखने को मिलते हैं उनका विशेष रूप से वर्णन रहता है। वैसे तो यात्रा से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं का भी वर्णन रहता है, परन्तु सुन्दर दृश्यों के वर्णन में अथवा महत्वपूर्ण स्थलों की विशेषताओं का उल्लेख करने में ही लेखक की वृत्ति अधिक रमती हुई दिखायी देती है। 'व्यास कुण्ड की यात्रा',[५] 'ज्वाला जी की यात्रा',[६] 'नैनीताल यात्रा',[७] 'चित्रकूट यात्रा',[८] 'ऋषीकेश की

---

१ ईश्वरी प्रसाद शर्मा—'मर्यादा', नवम्बर १९१२।

२ वियोगी हरि—'सम्मेलन पत्रिका', फाल्गुन संवत् १९७९।

३ आनन्दि प्रसाद श्रीवास्तव—'श्री शारदा', आश्विन संवत् १९८०।

४ 'श्री कमला',—भाद्रपद सङ्ख्या ६, संवत् १९७३।

५ सन्तराम—'सरस्वती', जनवरी १९२३।

६ सन्तराम—'सरस्वती', मार्च १९२४।

७ चण्डीलाल गुप्त—'मर्यादा', मई १९१२।

पाटेश्वरी प्रसाद त्रिपाठी—'मर्यादा', जनवरी १९१४।

यात्रा',[१] 'ध्रुव देश और ध्रुव देश की यात्रा',[२] माउण्ट एवरेस्ट की यात्रा',[3] 'उत्तरी ध्रुव की यात्रा',[४] 'कोलम्बस की जल-यात्रा'[५] आदि यात्रा-वर्णन सम्बन्धी निबन्ध इस युग में सैकड़ों की सङ्ख्या में लिखे गये। इन निबन्धों में वर्णन तथा विवरण शैलियों का अद्भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है, परन्तु लेखक की वर्णन-शक्ति की ही प्रधानता रहती है।

जीवनचर्य्या अथवा दिन चर्य्या-विषयक वर्णनात्मक निबन्धों की रचना भी द्विवेदी-युग में हुई है। 'अमरीका में हिन्दुस्तानी विद्यार्थियों की जीवन चर्य्या[६]', 'मुग़ल बादशाहों की दिन-चर्य्या'[७], 'फतहपुर सीकरी में अकबर की दिन-चर्य्या'[८], 'प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्य्या'[९] आदि निबन्धों की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जायगी। ये निबन्ध भी पाठक की ज्ञान-वृद्धि को ध्यान में रखकर ही लिखे गये हैं। इन निबन्धों में भाषा सरल और मुहावरे-दार है, तथा सरल वाक्यों का ही अधिक प्रयोग हुआ है, शैली का वह चम-त्कार इनमें देखने को नहीं मिलता जो भावात्मक अथवा विचारात्मक निबन्धों में देखने को मिलता है।

विविध वस्तु-वर्णनात्मक निबन्धों में अन्य शेष वर्णनात्मक निबन्धों की गणना की जायगी जो उक्त वर्गों के अन्दर नहीं आ सकते। 'लन्दन के पार्क',[१०] 'कन्या पाठशाला देहरादून'[११], 'मध्यप्रदेश की आदर्श यूनीवर्सिटी'[१२], 'अमेरिका

---

[१] अवध बिहारी शरण—'साहित्य-पत्रिका', सितम्बर १६१३।

[२] ठाकुर प्रसाद—'काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग १३, सङ्ख्या १, जुलाई १६०८।

[3] लक्ष्मी कान्त त्रिपाठी—'श्री शारदा', आश्विन संवत् १६८०।

[४] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', फरवरी १६०७।

[५] हरिशंकर प्रसाद उपाध्याय—'काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', नवम्बर-दिसम्बर, जनवरी-फरवरी १६११, १६१२।

[६] भोलादत्त पाण्डेय—'सरस्वती', दिसम्बर १६०६।

[७] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', दिसम्बर १६०८।

[८] पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र—'मर्यादा', नवम्बर १६१२।

[९] गंगाधरलाल श्रीवास्तव—'सरस्वती', अगस्त १६२१।

[१०] प्यारेलाल मिश्र—'सरस्वती', एप्रिल १६०८।

[११] रामनारायण मिश्र—'मर्यादा', जुलाई १६१४।

[१२] त्रिमूर्त्ति शर्मा—'प्रभा' (खण्डवा), अक्तूबर १६१३।

के होटेल[1], 'काशी हिन्दू-कालिज'[2], 'बम्बई की प्रदर्शिनी'[3], 'फ्रैंको ब्रिटिश प्रदर्शिनी'[4], 'प्रयाग की प्रदर्शिनी'[5] आदि निबन्ध इसी विभाग के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। इन निबन्धों की रचना में लेखक का प्रमुख उद्देश्य कलात्मक साहित्य का सृजन न हो कर, उपयोगी साहित्य को प्रस्तुत करना ही दिखायी देता है।

द्विवेदी-युग के वर्णनात्मक निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि इस युग में स्थूल वर्णन वाली पद्वति को विशेष रूप से अपनाया गया है। सूक्ष्म अनुभूति पर आधारित तथा कल्पना से अनुरञ्जित वर्णन बहुत कम देखने को मिलते हैं। इस युग के वर्णनात्मक निबन्धों की दूसरी विशेषता है पाठक की ज्ञान-वृद्धि तथा मनोरञ्जन करना। साहित्य के क्षेत्र में उपयोगितावाद की प्रधानता होने से कलात्मक साहित्य की रचना द्विवेदी युग में अधिक नहीं हुई है। इस कारण से वर्णनात्मक निबन्धों में शब्दों के द्वारा चित्र-लेखन की कला के अधिक उदाहरण देखने को नहीं मिलते हैं। इन निबन्धों में वर्ण्य विषय से पाठक को परिचित करना ही लेखकों को अभीष्ट है और इस कार्य में उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है। वर्णनात्मक निबन्धों की तीसरी विशेषता है भाषा का रोचक, सरल तथा सजीव होना। इस युग के लगभग सभी लेखकों ने अपने निबन्धों में भाषा के सरल और व्यावहारिक रूप का ही अधिक प्रयोग किया है। वर्णन-शैली में विकास होना, इस युग के निबन्धों की चौथी विशेषता कही जा सकती है। प्रतिभावान लेखकों के द्वारा इस शैली का अत्यधिक प्रयोग होने से इसमें नूतनता, प्रौढ़ता तथा सजीवता आ गयी, और चित्राङ्कन की उसमें अद्‌भुत क्षमता आ गयी है।

वर्णनात्मक निबन्धों में लेखक अभीष्ट विषय का तटस्थ भाव से वर्णन करने की ओर ही अपना ध्यान अधिक रखता है, इससे वह वर्णनशैली को ही अधिक प्रयोग में लाता है। परन्तु कभी-कभी निबन्धकार वर्णन-शैली से अलग हटकर, भावात्मक, संलापात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, उपदेशात्मक, व्यङ्गयात्मक अथवा हास्यात्मक-शैली का अवलम्बन ग्रहण करता है। यह

---

[1] दयाशङ्कर, बी० ए०—'लक्ष्मी', जनवरी १९२०।

[2] पुरुषोत्तम प्रसाद शर्मा—'कमला', पौष संवत् १९६४।

[3] माधवराव सप्रे—'सरस्वती, १९०५, पृ० ६५।

[4] प्यारे लाल मिश्र—'सरस्वती', जनवरी १९०९।

[5] राम जी लाल शर्मा—'सरस्वती', जनवरी १९११।

लेखक के दृष्टिकोण तथा व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। वर्णनात्मक निबन्धों में जहीं-कहीं इन शैलियों को ग्रहण किया जाता है वहीं लेखक का व्यक्तित्व स्पस्ट रूप से झलकने लगता है। इस विशेषता से युक्त होने पर निबन्ध और भी रोचक तथा साहित्यिक बन जाता है। द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों में यह विशेषता यत्र-तत्र देखने को मिलती है। भारतेन्दु युग में वर्णनात्मक निबन्ध बहुत कम सङ्ख्या में लिखे गये थे, उस युग में भावात्मक निबन्धों की ही प्रधानता रही, पर द्विवेदी-युग के लेखकों ने निबन्ध-साहित्य के इस रिक्त अङ्ग की पूर्त्ति अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं द्वारा बहुत शीघ्रता से कर दी।

विवरणात्मक निबन्ध

विवरणात्मक निबन्धों में लेखक अभीष्ट विषय से सम्बन्धित गतिशील घटनाओं अथवा दशाओं की चल चित्रावली खींचने का प्रयल करता है। वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों में प्रमुख अन्तर यह है कि प्रथम में निबन्धकार साहित्य के उपादानों के सहारे एक चित्र खींचने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार वह चित्रकार के निकट पहुँच जाता है, परन्तु द्वितीय में एक घटनाचक्र को क्रम से पाठकों के सामने रखना चाहता है और इस प्रकार वह चित्र को स्थिर रूप में उपस्थित न कर उसे गतिशील रूप प्रदान करता है। वर्णन और विवरण दो भिन्न वस्तुएँ हैं। वर्णन जड़ अथवा चेतन, प्राकृतिक अथवा मनुष्य-निर्मित किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ का होता है। वर्ण्यवस्तु से उसका गहरा सम्बन्ध रहता है, वह उसके रूप, गुण, क्रियाओं आदि का वर्णन विभिन्न दृष्टियों से उपस्थित करता है। परन्तु विवरण में घटनाओं के क्रमिक उल्लेख को ही अधिक महत्व दिया जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वर्णन का अधिक सम्बन्ध देश से रहता है, तो विवरण का काल से। विवरणात्मक निबन्धों में पाठक के कौतूहल को जाग्रत रखना ही उसकी सफलता की कसौटी है, परन्तु वर्णनात्मक निबन्धों में पाठक की कल्पनाशक्ति को उत्तेजना देकर, वर्ण्यवस्तु को उसके चित्त पर अङ्कित कर देना ही उसकी सफलता का मापदण्ड कहा जा सकता है।

वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक निबन्धों में एक अन्तर यह भी है कि प्रथम में निबन्धकार वर्तमान से अधिक सम्बन्ध रखता है, वह वर्णन में सजीवता लाने के लिए वस्तुओं को भूतकाल की न कह कर, कल्पना के सहारे पाठक के सामने प्रत्यक्ष रूप में लाने का प्रयत्न करता हैं, परन्तु विवरणात्मक निबन्धों में वह भूतकाल में ही विचरण करना अधिक श्रेयस्कर समझता है।

उदाहरणार्थ जीवन चरित सम्बन्धी अथवा घटना-प्रधान लेख विवरणात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। वर्णनात्मक निबन्धों में लेखक इसी लोक का प्राणी रहता है, परन्तु विवरणात्मक निबन्धों में वह कल्पना के सहारे दूसरे लोक का प्राणी बन जाता है, जैसे स्वप्नों की कथा से सम्बन्धित विवरणात्मक निबन्धों में लेखक इस लोक को छोड़कर एक अद्भुत लोक में विचरण करने लगता है।

विवरणात्मक निबन्धों में लेखक विषय से सम्बन्धित घटनाओं के विवरण को एक क्रम से सँजोता है। इस क्रम से सँजोने में उसकी विवरण-शक्ति विशेष रूप से सहायक होती है। निबन्ध को सुसंगठित तथा सुष्ठु रूप प्रदान करने के लिए उसे तीन वस्तुओं का प्रमुख रूप से ध्यान रखना पड़ता है—१ संगठन, २ क्रम तथा ३ सङ्गति। सङ्गठन से तात्पर्य है कि घटनाओं को कार्य-कारण की शृङ्खला में बाँध कर उपस्थित किया जाय, विवरण में टूटी हुई माला के दानों की भाँति घटनाओं में विशृङ्खलता न दिखायी पड़े। इसके अतिरिक्त घटनाओं को एक क्रमवद्ध रूप में रखा जाय, जिससे विवरण में एक तारतम्य झलकता रहे। क्रम से तात्पर्य काल-क्रम से होता है तो सङ्गति से स्थानक्रम का भाव ग्रहण किया जाता है। विवरणात्मक निबन्धों में इन तीनों तत्वों की परम आवश्यकता होती है। निबन्ध को रोचक तथा सजीव बनाने के लिए निबन्धकार की घटनाओं की योजना इस भाँति होना चाहिए जिससे पाठक में कौतूहल की भावना जाग्रत रहे और विवरण में किसी प्रकार की शिथिलता न आने पाये। विवरणात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं दृष्टान्तों की योजना भी की जाती है। ऐसे अवसरों पर निबन्धकार को यह न भूलना चाहिए कि उसके दृष्टान्त विवरण को सजीव एवं आगे बढ़ाने में तथा विषय को हृदयङ्गम कराने में कहाँ तक सहायक हैं।

विवरणात्मक निबन्धों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है— १ कथात्मक, २ जीवन चरितात्मक तथा ३ घटनात्मक। कथात्मक निबन्धों में लेखक एक कथा सी कहता है। ऐसे निबन्धों तथा कहानियों में प्रमुख अन्तर उनके रचना-तत्वों तथा शैली में है। वार्त्तालाप, चरित्र-चित्रण, वस्तु-विन्यास को जितना महत्व कहानी में दिया जाता है, कथात्मक निबन्धों में उतना नहीं। कथात्मक निबन्ध में लेखक केवल कथा का सहारा ही लेता है। वह अपनी विवरण-शक्ति के द्वारा निबन्ध को कथा का स्वरूप प्रदान करता है परन्तु कथा उसके लिए एक साधन मात्र ही है, साध्य नहीं। कहानी में कथा कहना साध्य होता है, साधन नहीं। कहानी में घटनाओं के घात-प्रतिघात से कथा का क्रमिक विकास होना अनिवार्य समझा जाता है, परन्तु कथात्मक

निबन्धों में घटनाओं की योजना उदाहरणों के रूप में होती है, उनमें कार्य-कारण का सम्बन्ध होना आवश्यक हो सकता है, परन्तु अनिवार्य नहीं। कहानीकार को वर्णन-शक्ति तथा विवरण-शक्ति, दोनों की अपेक्षा रहती है, एक के अभाव में कहानी की रोचकता में कमी पड़ जाती है, परन्तु कथात्मक निबन्धकार केवल कथा का सूत्र पकड़ कर निबन्ध के अन्त तक पहुँच सकता है। एक और विभिन्नता इन दोनों मे पायी जाती है, वह है लेखक का व्यक्तित्व। निबन्ध में लेखक जब चाहे पाठक के निकट आकर उनसे बातचीत कर उससे उपदेश तथा ज्ञान-सम्बन्धी बातों को कह सकता है, पर कहानीकार को यह स्वतन्त्रता नहीं रहती है।

कथात्मक निबन्धों के तीन उपविभाग किये जा सकते हैं—१ आत्म-कथा, २ स्वप्न की कथा तथा ३ रूपकात्मक कथा। आत्मकथा सम्बन्धी निबन्धों में किसी भावना, वस्तु आदि के मानवीकरण द्वारा अथवा किसी व्यक्ति की आत्मकथा का विवरण उसी पात्र के मुख से सुनाया जाता है। 'एक अशरफी की आत्मकहानी [१]', 'एक शिकारी की सच्ची कहानी [२]', 'दण्डदेव का आत्मनिवेदन [३]', 'एक दुःखी की आत्मकहानी[४]', 'जल की आत्मकथा,[५]' 'जूते की आत्मकहानी[६]', 'मैं कवि कैसे हुआ[७]', 'मैं कैसे डाक्टर हो गया[८]', 'मैं तुम्हारा कौन हूँ[९]', 'तुम हमारे कौन हो[१०]', 'दीपकदेव का आत्मचरित[११]' आदि इसी प्रकार के कथात्मक निबन्ध हैं। द्विवेदी-युग के इन निबन्धों में निबन्ध-कला तथा कहानी-कला का अद्‌भुत सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

---

[१] वेंकटेश नारायण तिवारी—'सरस्वती', आक्टोबर १९०६।

[२] निजाम शाह—'सरस्वती', एप्रिल १९११।

[३] श्री कण्ठ पाठक—'सरस्वती', मार्च १९२४।

[४] सैयद अमीर अली 'मीर'—'प्रभा' (खण्डवा), कार्तिक शुक्ल १, संवत् १९७०।

[५] जे. एन. एस. गहलौत—'इन्दु', अगस्त १९१५।

[६] बिन्ध्येश्वरी प्रसाद उपाध्याय-'नागरी-हितैषिणी पत्रिका', फरवरी-मार्च १९१३।

[७] एक साहित्य प्रेमी—'कमला', वैसाख संवत् १९६५।

[८] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', मार्च १९०५।

[९] लाला पार्वती नन्दन—'सरस्वती', जुलाई १९०२।

[१०] ,, ,, ,, अप्रैल १९०४।

[११] शिवप्रसाद शर्मा—'सरस्वती', नवम्बर १९०७।

स्वप्न की कथा के रूप में कथात्मक निबन्धों की परिपाटी हिन्दी-साहित्य में बहुत पुरानी है। यदि कहा जाय कि स्वप्नों की कथा के रूप में ही हिन्दी निबन्ध का सूत्रपात हुआ तो असङ्गत न होगा। राजा शिवप्रसाद का 'राजाभोज का सपना', भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', राधाचरण गोस्वामी का 'यम लोक-यात्रा' आदि निबन्ध इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने भी इस परम्परा को जीवित रखने के लिए तथा उसको विकसित करते हुए स्वप्नों की कथा के रूप में अनेक निबन्ध लिखे हैं। इस विभाग के अन्तर्गत 'विद्यारण्य[१]' 'कविता का दरबार[२]', 'मेरा स्वप्न[३]', 'साम्यवादी परशुराम[४]', 'क्या था[५]' आदि निबन्धों की गणना की जा सकती है। इन निबन्धों में लेखक किसी विषय पर बात-चीत करते विचार मग्न हो सो जाता है। सोने के पश्चात स्वप्न में वह जो कुछ देखता है उसका रोचक तथा सजीव वर्णन निबन्ध में उपस्थित करता है। 'साम्यवादी परशुराम' में लेखक इसी प्रकार की स्थिति का उल्लेख करता है—

"लेनिन का जीवन-चरित पढ़ते-पढ़ते और उसके प्रभाव से प्रभावान्वित होते-होते जिस समय मेरी आँख लग गयी, मैंने स्वप्न में देखा कि एक श्वेत-काय भव्यमूर्ति मेरे सामने खड़ी है। मेरा ध्यान उसकी ओर आकृष्ट होते ही उस मूर्ति ने मुझ से कहा—[६]' इत्यादि

कथात्मक निबन्धों की तीसरी कोटि के अन्तर्गत आनेवाले निबन्धों में रूपकों की सहायता से लेखक कोई कहानी कहता है। 'महाराज सूरजसिंह और बादलसिंह की लड़ाई[७]', 'वर्षा-विजय[८]' आदि इसी तरह के निबन्ध हैं। इन निबन्धों में लेखक कहानीकार के अत्यधिक निकट आ जाता है, क्योंकि इसमें चरिताङ्कन की ओर भी लेखक का झुकाव रहता है। इसके अतिरिक्त कहानीकार

---

१ लक्ष्मीधर वाजपेयी-'सरस्वती', एप्रिल १९०७।

२ लल्ली प्रसाद पाण्डेय-'सरस्वती', फरवरी १९०९।

३ अवधबिहारी शरण-'साहित्य-पत्रिका', सितम्बर १९१४।

४ 'अर्जुन'-'साहित्य', भाग १, अङ्क १, आषाढ़ संवत् १९७९।

५ कमला प्रसाद-'लक्ष्मी', जून १९१९।

६ 'साहित्य', भाग १, अङ्क १, आषाढ़ संवत् १९७९।

७ बदरीदत्त पाण्डेय-'सरस्वती', अप्रैल १९०५।

८ लक्ष्मण गोविन्द आठले-'सरस्वती', अगस्त १९०८।

की तरह निबन्धकार केवल विवरण-शक्ति से ही अधिक सहारा न लेकर वर्णन शक्ति से भी कार्य लेता है। उदाहरण के लिए बदरीदत्त पाण्डेय के 'महाराज सूरजसिंह और बादल सिंह की लड़ाई' में देखिए—

"इस साल पृथ्वी पर ठाकुर जाड़ासिंह का प्रचंड कोप देख कर मनुष्यों को भय हुआ। इसका कारण जानने की परम उत्कण्ठा हुई। किसी ज्योतिषी ने यह स्थिर किया कि महाराज सूरजसिंह इस साल रोग ग्रस्त हैं। उनके तप्त-कांचन-तुल्य शरीर में एक बहुत बड़ा घाव हो गया है।" इत्यादि

इस प्रकार लेखक ने मानवीकरण तथा प्रतीकवाद के सहारे कहानी कहने का प्रयत्न किया है और जिसमें चरित्राङ्कन को भी स्थान मिला है।

विवरणात्मक निबन्धों का दूसरा वर्ग जीवन-चरितात्मक निबन्धों का है। इन निबन्धों में किसी व्यक्ति के बाह्य तथा आभ्यंतरिक जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं का विवरण रहता है। निबन्धकार सहानुभूति तथा निष्पक्षता के साथ चरितनायक के गुण-दोषों पर प्रकाश डालता हुआ निबन्ध को सुगठित तथा कलात्मक रूप देने का प्रयत्न करता है। ऐसा करने में उसे शैली की ओर विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है।

द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों ने जीवन-चरित सम्बन्धी निबन्धों को प्रचुर मात्रा में उपस्थित किया जिससे जीवनी साहित्य को एक अलग स्थान प्राप्त हो गया। 'सरस्वती' के लेखों की विषय सूची देखने से ज्ञात होता है कि निबन्धों का एक वर्ग 'जीवन-चरित' के नाम से मिलता है। स्वयं द्विवेदी जी ने जीवन-चरित सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे हैं। 'चरित-चर्या', 'चरितचित्रण', 'बनिता-विलास' 'सुकवि सङ्कीर्तन', 'प्राचीन पंडित और कवि' आदि जीवन-चरितों के ही सङ्ग्रह हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ही हिन्दी में 'जीवन-चरित' को साहित्यिक रूप दिया और उन्होंने अन्य विद्वानों को भी जीवन-चरित सम्बन्धी लेख लिखने को प्रेरित किया। लेखकों ने इस प्रकार के साहित्य की रचना कर पाठक के ज्ञान-विस्तार, रुचि-परिष्कार तथा मनोरञ्जन के साथ-साथ उसके चरित्र-निर्माण की भी सामग्री जुटायी। चरितात्मक निबन्धों में पौराणिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि महानपुरुषों के जीवन-चरित लिखे गये। इन निबन्धों का प्रमुख उद्देश्य आदर्श चरित्रों द्वारा पाठकों के चरित का विकास करना ही है।

पौराणिक पुरुषों से सम्बन्धित जीवनचरितात्मक निबन्धों में चरित-नायक के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया गया है। ऐसे

निबन्धों में 'महाबली भीम के जीवन पर एक दृष्टि[१]', 'भीष्म पितामह[२]', 'भगवान श्री कृष्ण[३]' आदि उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक पुरुषों से सम्बन्धित अनेक चरितात्मक निबन्ध इस युग में लिखे गये। जिस प्रकार पौराणिक निबन्धों में पुराणों को आधार बनाया गया उसी प्रकार इन निबन्धों में इतिहास-ग्रन्थों को। 'वैरागीवीर'[४], 'महारानी दुर्गावती'[५], 'देश भक्त बाजी प्रभु'[६] 'सिकन्दर के जीवन पर एक दृष्टि'[७], 'सवाई जयसिंह'[८], 'नवाब आसफुद्दौला'[९], 'औरङ्गजेब के जीवन पर एक दृष्टि'[१०], 'नाना फड़नवीस'[११], 'राजाबीरबल'[१२], 'महारानी दुर्गावती का जीवन चरित'[१३] आदि ऐसे ही निबन्ध हैं। इन निबन्धों में चरितनायक के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं का तो उल्लेख मिलता ही है साथ में उसके समय की सभ्यता तथा संस्कृति की भी कुछ झलक मिल जाती है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये निबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

साहित्यिक पुरुषों के भी इस युग में अनेक जीवन-चरित लिखे गये जो साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। इन निबन्धों में चरितनायक के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं के साथ-साथ उसकी रचनाओं अथवा कवियों का भी विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। अन्त में कभी-कभी उसकी कृतियों का मूल्याङ्कन अथवा साहित्य के क्षेत्र में उसके महत्व को भी स्पष्ट कर दिया गया है। 'बुधवर मि० एफ० एस०

---

१ महेन्द्रनाथ चतुर्वेदी—'इन्दु', कला ५, खण्ड २, किरण १, आषाढ़ १९७६।
२ पुरुषोत्तमदास टण्डन—'मर्यादा', मार्च १९११।
३ पद्मसिंह शर्मा—'पद्मपराग' में सङ्गृहीत, पृ० १,।
४ सन्तराम—'सरस्वती', आक्टोबर १९२३।
५ ब्रजरत्नदास—'सरस्वती', मई १९२५।
६ अध्यापक जहूरबख्श—'प्रभा' (कानपुर), अक्टूबर १९२०।
७ बनारसी दास चतुर्वेदी—'इन्दु', चैत्र संवत् १९७१।
८ महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', १९०५, पृ० १९५।
९ द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी—'मर्यादा', अक्टूबर १९११।
१० बनारसीदास चतुर्वेदी—'मर्यादा', जुलाई १९१२।
११ लक्ष्मीधर बाजपेयी—'सरस्वती', जून १९०९।
१२ अमरसिंह—'सरस्वती', दिसम्बर १९०९।
१३ 'गोपाल पत्रिका', मार्च १९०३।

ग्राउस[१]', 'जर्मनी का कवि सम्राट गोथे[२]', 'कविवर बेनी प्रवीण और उनका काव्य[३]', 'भक्त कवि रायबहादुर मधुसूदन राव[४]', 'डा० सेम्युल जान्सन[५]' 'कविवर लल्लू जी लाल[६]', 'स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त[७]', 'डा० ग्रियर्सन[८]', 'बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री[९]', 'महाकवि होमर[१०]', 'सैयद इंशा अल्ला खाँ[११]', 'पं० बालकृष्णभट्ट[१२]', 'मिर्जा गालिब[१३]', 'माघ कवि का जीवन चरित[१४]' आदि साहित्यिक पुरुषों के जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित निबन्ध हैं। साहित्य के विद्यार्थी की जिज्ञासा शान्त करने के लिए इन निबन्धों में पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

द्विवेदी-युग में धार्मिक महापुरुषों के जीवन-चरित सम्बन्धी निबन्ध भी लिखे गये। धार्मिक पुरुषों से तात्पर्य धर्म-प्रचारकों का अथवा धर्म रक्षकों का लिया जा सकता है। 'महात्मा बुद्धदेव[१५]', 'श्री शंकराचार्य[१६]', 'चैतन्य महाप्रभु[१७]', 'स्वर्गीय गणपति रामदेसाई[१८]', 'हजरत मुहम्मद और कुरान-शरीफ[१९]' आदि निबन्धों की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की सकती है।

---

[१] काशीप्रसाद जायसवाल—'सरस्वती', जनवरी १९०६।

[२] श्याम सुन्दर जोशी—'सरस्वती', जुलाई १९१७।

[३] पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र—'सरस्वती', अक्टूबर १९२४।

[४] पण्डित लोचन प्रसाद पाण्डेय—'माधुरी', जून १९२५।

[५] लल्ली प्रसाद पाण्डेय—'प्रभा' (खण्डवा), वैसाख शुक्ल १, संवत् १९७०।

[६] ऋषीश्वर नाथभट्ट—'प्रभा' (खण्डवा), सितम्बर १९१३।

[७] जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—'देवनागर', संवत् १९६४, पृ० २०६।

[८] बाबू काशीप्रसाद जायसवाल—'सरस्वती', १९०५, पृ० ४४।

[९] चौधरी पुरुषोत्तमप्रसाद शर्मा—'सरस्वती', १९०५, पृ० ८३।

[१०] खुशीलाल वर्मा—'सरस्वती', मार्च १९०८।

[११] किशोरी लाल गोस्वामी—'मर्यादा', नवम्बर १९११।

[१२] रासबिहारी शुक्ल—'सरस्वती', नवम्बर १९१४।

[१३] ज्वालादत्त शर्मा—'सरस्वती', अप्रैल १९१५।

[१४] 'गोपाल पत्रिका', सन् १९०३ की अनेक सङ्ख्याओं में प्रकाशित।

[१५] लक्ष्मीधर शुक्ल—'प्रभा' (खण्डवा), फाल्गुन संवत् १९७०।

[१६] रामप्रसाद पाण्डेय—'सरस्वती', आक्टोबर १९२५।

[१७] रामानन्द सिंह—'लक्ष्मी', जून १९१५।

[१८] माधव राव सप्रे—'सरस्वती', भाग १८, सङ्ख्या ४, सन् १९१७।

[१९] विश्वम्भरनाथ शर्मा—'सरस्वती', जून १९१३।

ये निबन्ध पाठक के चरित्र-निर्माण तथा उसके ज्ञान-विस्तार की दृष्टि से ही लिखे गये हैं किसी विशेष धर्म के प्रचार के उद्देश्य से नहीं।

राजनीतिक पुरुषों के जीवन चरित से सम्बन्धित निबन्धों में उन महान पुरुषों के जीवन की घटनाओं का उल्लेख है जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय उत्थान में योग दिया अथवा किसी अन्य देश की राजनितिक जाग्रति में प्रमुख भाग लिया था। 'देशबन्धु चितरञ्जन दास[१]', 'गोपाल कृष्णगोखले[२]', 'स्वर्गीय दादा भाई नौरोजी[3]', 'सर फीरोजशाह मेहता[४]', 'डा० सर प्रफुल्ल चन्द्र राय[५]' आदि निबन्धों को इसी वर्ग के अन्तर्गत गिना जा सकता है।

द्विवेदी-युग में उक्त प्रकार के जीवन चरितात्मक निबन्धों के अतिरिक्त अनेक विज्ञान-वेत्ताओं, राजारईसों आदि महान् पुरुषों की जीवनियाँ भी निबन्धों के रूप में देखने को मिलती हैं। इन निबन्धों के चरित-नायकों से लोक का जो-कुछ कल्याण हुआ है उसका भी उल्लेख कर दिया गया है। इस युग के कुछ विद्वानों ने अपने इष्टमित्र अथवा सम्बन्धियों को प्रकाश में लाने के लिए तथा उन्हें प्रसिद्धि दिलाने के लिए भी निबन्ध लिखे परन्तु ऐसे निबन्धों की सङ्ख्या अति ही न्यून है।

जीवन-चरित-सम्बन्धी निबन्धों को रोचक तथा सजीव बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि निबन्ध का आरम्भिक वाक्य पाठक के हृदय पर ऐसा जादू खेल जाय, जिससे वह निबन्ध को बिना समाप्त किये न छोड़े। द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों में यह विशेषता प्रमुख रूप से पायी जाती है। 'बुध-वर मि० एफ० एस० ग्राउस' में काशी प्रसाद जायसवाल लिखते हैं—

"आज हम एक ऐसे कीर्तिधाम विद्वान का चित्रसहित संक्षिप्त चरित आपको भेंट करते हैं जो मानस रामायण का अपनी भाषा में गान कर निज-नाम को अमर कर गये हैं। जिले के साधारण हाकिम होकर वें अपने विद्या-बल और गुणग्राहकत्व के द्वारा इस देश में, लाट साहबों से भी अपने को अधिक स्मरणीय कर गये हैं।" इत्यादि

---

१ छनिनाथ पाण्डेय—'साहित्य', भाग १, खण्ड १, अङ्क १, श्रावण संवत् १९७९।

२ शिवनन्दनसिंह—'इन्दु', कला ६, खण्ड १, किरण ३, मार्च १९१५।

3 रामानुग्रहनारायणलाल—'लक्ष्मी', फरवरी १९१८।

४ श्यामाचरण राय—'सरस्वती', दिसम्बर १९१५।

५ रघुवर प्रसाद द्विवेदी—'श्री शारदा', वर्ष-४, खण्ड १, सङ्ख्या १, वैसाख संवत १९८०।

अतएव पाठक को अपने वश में करने के लिए यह आवश्यक होता है कि जिस महान् चरित का अङ्कन किया जा रहा हो उसके गुणों अथवा कार्यों की प्रशंसा का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया जाय। कभी-कभी निबन्ध के आरम्भ में चरितनायक के गुणों का उल्लेख न करके उस देश अथवा प्रान्त की दशा को चित्रित करने का प्रयत्न किया जाता है, जिसके लिए उस महान् पुरुष के कार्य अत्यन्त लाभदायक हो सकते हैं। 'आस्ट्रेलिया के धन्वन्तरि' निबन्ध में भारतवर्ष में साँप द्वारा काटे हुए मनुष्यों की मृत्यु तथा उचित उपचार न हो सकने का उल्लेख आरम्भ में ही कर दिया गया है—

"भारतवर्ष में साँपों की जैसी बहुतायत है वह किसी से छिपा नहीं है। वर्षा ऋतु में प्रतिवर्ष सैकड़ों मनुष्य सर्पदंश से मृत्यु को प्राप्त होते हैं। बरसात में भारतवर्ष के गाँवों में प्रायः थालियों का बजना सुनायी पड़ता है, साँप का विष झारनेवाले नाना प्रकार के उपायों से विष दूर करने का उद्योग करते हैं। साधारण साँप का काटा हुआ मनुष्य चाहे बच जाय पर काले विषधर सर्प का काटा हुआ मनुष्य फिर बचता नहीं देखा गया,[२]" इत्यादि।

इस प्रकार निबन्ध के आरम्भ में भारत की दशा को दिखला कर आस्ट्रेलिया के धन्वन्तरि, टामस वानलेस की जीवनी का विवरण लेखक ने उपस्थित किया है। इन निबन्धों को रोचक बनाने में लेखक की शैली विशेष रूप से सहायक होती है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की दृष्टि 'भगवान श्री कृष्ण' निबन्ध में श्रीकृष्ण के जीवन चरित से सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख करते-करते आधुनिक लीडरों की ओर जाती है तो वे उनकी अच्छी तरह खबर लेते हैं—

श्रीकृष्ण ने अपने सगे सम्बन्धी, पर अन्यायी दुर्योधन का निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया। और एक आजकल के लीडर हैं जो हर कहीं निमन्त्रण पाने के प्रयत्न में रहते हैं। आज अपमानित होकर असहयोग की घोषणा करते हैं, कल उड़ती चिड़िया द्वारा निमन्त्रण पाकर सहयोग करने दौड़ते हैं।[३]'

इस तरह लेखक ने निबन्ध में व्यङ्ग्यात्मक शैली को अपनाकर

---

[१] काशीप्रसाद जायसवाल—'सरस्वती', भाग ७, सङ्ख्या १, सन् १६०६।

[२] कृष्ण बिहारी मिश्र—'इन्दु', किरण ४-५, अक्टूबर-नवम्बर १६१६, पृ० ३१७।

[३] पद्म-पराग, पृ० ८।

अत्यधिक रोचक बना दिया है। द्विवेदी-युग के जीवन चरितात्मक निबन्धों की भाषा सरल, व्यावहारिक और मुहावरेदार ही अधिक है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और सरल परिचयात्मक शैली को ही अधिक अपनाया गया है। द्विवेदी-युग से पहले हिन्दी-साहित्य में ऐसे निबन्धों का एक प्रकार से अभाव था, परन्तु पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके अन्य समकालीन लेखकों ने इस प्रकार के निबन्धों को प्रचुर संख्या में प्रस्तुत कर निबन्ध-साहित्य के इस अङ्ग को भी पुष्ट तथा परिष्कृत बना दिया।

विवरणात्मक निबन्धों का तीसरा विभाग घटनात्मक निबन्धों का है। ऐसे निबन्धों में किसी ऐतिहासिक, अलौकिक अथवा सामान्य घटना का विवरण उपस्थित किया जाता है। द्विवेदी-युग में घटनात्मक निबन्ध भी प्रचुर मात्रा में लिखे गये हैं। इन निबन्धों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—[१] ऐतिहासिक,[२] अलौकिक, तथा[३] सामान्य। ऐतिहासिक घटनात्मक निबन्धों में किसी ऐतिहासिक घटना का विवरण रोचक तथा सजीव ढंग से उपस्थित किया जाता है। ऐसे निबन्धों में उस घटना का समय, कारण तथा महत्व उपस्थित किया जाता है जिसका विवरण देना लेखक को अभीष्ट होता है। 'चित्तौर का सर्वनाश[१]', 'हैदर अली की क्रूरता[२]', 'फ्रांस का राष्ट्र विप्लव[३]', 'प्रचण्ड पुल्टावा पराजय[४]', 'अजेय सागर पोत पुञ्जपराजय[५]', 'महाराणा प्रतापसिंह का राज्याभिषेक[६]', 'शिवा जी का राज्याभिषेक[७]', 'अमेरिका का अभ्युदय[८]', 'छत्रपति शिवाजी का राज्याभिषेक[९]' आदि निबन्ध इसी कोटि के अन्तर्गत आयँगे। इन निबन्धों का ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। इन निबन्धों में लेखक ने कल्पना का अधिक सहारा न लेकर, इतिहास ग्रन्थों का ही अधिक सहारा लिया है।

---

[१] रूपनारायण पाण्डेय—'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण १, संवत् १९७०।

[२] हरिदास माणिक—'इन्दु', कला १, किरण ६, संवत् १९६६।

[३] महेन्द्रपाल सिंह—'मर्यादा', सितम्बर-अक्टूबर १९१२।

[४] पं० कृष्णबिहारी मिश्र—'इन्दु', किरण २, अगस्त १९१५।

[५] ,, —'इन्दु', किरण २, फरवरी १९१५।

[६] महेन्द्रपाल सिंह—'मर्यादा', दिसम्बर-जनवरी १९११-१२।

[७] प्रयाग प्रसाद त्रिपाठी—'साहित्य-पत्रिका', अगस्त १९१४।

[८] पं० कृष्णबिहारी मिश्र—'इन्दु', किरण ३, मार्च १९१५।

[९] महेन्द्रपाल सिंह—'मर्यादा', दिसम्बर-जनवरी १९११-१२।

अलौकिक घटनात्मक निबन्धों में किसी आश्चर्यजनक तथा अद्भुत घटना का विवरण उपस्थित किया जाता है। हिन्दी साहित्य में ऐसे निबन्धों के जन्मदाता पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ही कहे जा सकते हैं। 'अद्भुत आलाप' में इनके ऐसे ही निबन्धों का सङ्ग्रह है। 'व्योम-विहरण[१]', 'अद्भुत इन्द्रजाल[२]', 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि[३]', 'अन्तः सालिल विद्या[४]', 'आकाश में निराधार स्थिति[५]', 'भयङ्कर भूतलीला[६]' आदि निबन्ध इसी कोटि के अन्तर्गत आयँगे। इन निबन्धों की रचना पाठक के मनोरञ्जन करने के उद्देश्य से ही हुई है। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि ऐसे निबन्धों की रचना की ओर विद्वानों का अधिक ध्यान न गया।

सामान्य घटनात्मक निबन्धों में किसी महत्वपूर्ण घटना का विवरण उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है। 'अनुमोदन का अन्त[७]', 'इङ्गलैण्ड के देहात में महाराजा बनारस का कुआँ[८]', 'सर विलियम जेम्स ने हिन्दी कैसे सीखी[९]' आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। इन निबन्धों में सामान्य घटनाओं के विवरण को ऐसे रोचक ढंग से रखने का प्रयत्न किया गया है कि पाठक जब तक निबन्ध को समाप्त नहीं कर लेता तब तक उसका ध्यान किसी अन्य वस्तु की ओर नहीं जाता।

द्विवेदी-युग के विवरणात्मक निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके अन्य समकालीन लेखकों ने इस प्रकार के निबन्धों के विभिन्न उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि विवरणात्मक निबन्धों का जन्म भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, परन्तु द्विवेदी-युग के लेखकों ने निबन्ध-रचना की इस शैली को विकसित तथा परिमार्जित कर सुष्ठु रूप प्रदान किया। ये निबन्ध अधिकतर पाठक के मनोरञ्जन के लिए

---

[१] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', १९०५, पृ० ९२।
[२] ,, ,, जनवरी १९०६।
[३] ,, ,, आक्टोबर १९०६।
[४] ,, ,, अप्रैल १९०५।
[५] ,, ,, १९०५, पृ० ३८२।
[६] ,, ,, जुलाई १९०६।
[७] ,, ,, फरवरी १९०५।
[८] काशीप्रसाद जायसवाल—,, जुलाई १९०८।
[९] महावीर प्रसाद द्विवेदी—,, जून १९०८।

ही लिखे गये हैं, परन्तु उसके ज्ञान-विस्तार तथा चरित्र-विकास को लेखक ने दृष्टि से ओझल नहीं होने दिया है। द्विवेदी-युग के इन निबन्धों को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि निबन्धकार ने कहानीकार से होड़ लेने की ठान ली है। उसने अपने निबन्धों में कहानी-कला की समस्त विशेषताओं को आत्मसात करने का प्रयत्न किया है और इसमें उसे बहुत कुछ सफलता भी मिली है। विवरण का सबसे बड़ा गुण है, पाठक के कौतूहल को जाग्रत रखना। द्विवेदी-युग के विवरणात्मक निबन्धों में यह विशेषता भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। अधिकतर इन निबन्धों में भाषा का सरल और व्यावहारिक रूप ही देखने को मिलता है जिससे पाठक के मनोरञ्जन में कोई बाधा नहीं पड़ती है।

भावात्मक निबन्ध

साहित्य के मूल आधार भाव और विचार हैं। भावात्मक निबन्धों में विचारों के प्रतिपादन की अपेक्षा भावों की अभिव्यञ्जना ही अधिक होती है। परन्तु इस विषय में एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए। साहित्य में उन्हीं भावों को स्थान मिलता है जो बुद्धि से अनुशासित तथा युक्ति-सङ्गत होते हैं। भाव प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा का विशेष धर्म है और साहित्य के क्षेत्र में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। भावात्मक निबन्धों की भित्ति इन्हीं भावों के प्रकाशन पर आधारित होती है।

भावात्मक निबन्धों का प्रमुख उद्देश्य पाठक के हृदय में भावोद्रेक तथा रस-सञ्चार करना होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि भावात्मक निबन्धों का बुद्धि की अपेक्षा हृदय से अधिक सम्बन्ध रहता है। लेखक भावावेश में आकर विषय से सम्बन्धित भावोद्गारों के प्रकाशन में तल्लीन हो जाता है तभी भावात्मक निबन्धों का प्रादुर्भाव होता है। भावों की प्रबल वेगधारा में लेखक स्वयं तो अवगाहन करता ही है, साथ ही पाठक को भी वैसा ही करने के लिए विवश करता है। उस प्रखरधारा में दोनों बह जाते हैं, परन्तु निबन्ध के अन्त में दोनों किनारे आ लगते हैं और अपने अस्तित्व को पृथक-पृथक देख कर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं।

भावात्मक निबन्धों में लेखक को यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि भावावेश में आकर, भावोद्गारों की अभिव्यञ्जना में वह विषयान्तर में इतना अधिक न चला जाय कि जिससे अभीष्ट विषय पीछे ही छूट जाय। विषय से सम्बन्धित भावों को ही निबन्ध में विशेष रूप से स्थान मिलना चाहिए,

क्योंकि इससे निबन्धों में अधिक स्वाभाविकता तथा कलात्मकता आ जाती है।

भावात्मक निबन्धों की परिपाटी चलाने वाले भारतेन्दु ही कहे जा सकते हैं। भारतेन्दु तथा उस युग के अन्य निबन्धकारों ने अधिकतर भावात्मक निबन्धों की ही रचना की। भावात्मक निबन्ध साहित्य जितना उस युग में रचा गया उतना द्विवेदी-काल में नहीं। इसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि दोनों युग के लेखकों के उद्देश्य भिन्न थे। भारतेन्दु-युगीन निबन्धकारों का प्रमुख उद्देश्य पाठकों का मनोरञ्जन तथा आत्म-प्रकाशन था। परन्तु द्विवेदी-युग में पाठक के ज्ञान-विस्तार तथा रुचि-परिष्कार को ही अधिक महत्व दिया जाता था। इसी कारण से द्विवेदी-युग में भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा विचारात्मक निबन्धों की ओर लेखकों ने अधिक ध्यान दिया।

द्विवेदी-युग के भावात्मक निबन्धों को दो उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—१ सामान्य भावात्मक तथा २ कवित्वप्रधान भावात्मक निबन्ध। सामान्य भावात्मक निबन्धों में भावों के साथ विचारों का गठबन्धन रहता है; परन्तु कवित्व-प्रधान निबन्धों में विचारों की गौणता तथा भावों की प्रधानता रहती है। कवित्व-प्रधान निबन्ध कविता के अत्यधिक निकट पहुँच जाता है; उसमें काव्यकला की लगभग सभी विशेषताओं का समावेश करने प्रयत्न किया जाता है। 'सच्ची वीरता[१]', 'आचरण की सभ्यता[२]', 'मजदूरी और प्रेम[३]', 'कन्यादान[४]', 'रामलीला[५]', 'परीक्षा[६]', 'द्रव्य माहात्म्य[७]', 'सुख[८]', 'धैर्य[९]', 'हृदयोद्गार[१०]' आदि को सामान्य भावात्मक निबन्ध ही

---

१. अध्यापक पूर्ण सिंह—'सरस्वती', जनवरी, फरवरी १९०९।
२. ,, ,, १९१२, पृ. १०१ और १४१।
३. ,, ,, १९१२, पृ. ४६८।
४. ,, ,, अक्टूबर, १९०९।
५. माधव मिश्र निबन्धमाला में संगृहीत।
६. ,,
७. यमुना प्रसाद पाण्डेय—'सरस्वती', अगस्त १९०६।
८. मौलवी अब्दुल जलील—'लक्ष्मी', जून १९१९।
९. हरिश्चन्द्र शर्मोपाध्याय—'आनन्द कादम्बिनी', माघ-फाल्गुण सं० १९६३।
१०. सत्यदेव—'सरस्वती', एप्रिल १९११।

कहा जायगा। इन निबन्धों में भावों की प्रधानता होते हुए भी उनकी तह में एक क्षीण विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है।

कवित्व-प्रधान भावात्मक निबन्धों में उच्चकोटि की रसात्मकता का अभाव होते हुए भी किसी सीमा तक काव्य की रमणीयता का कुछ अंश अवश्य रहता है। ऐसे निबन्धों की रचना भी द्विवेदी-युग में पर्याप्त मात्रा में हुई है। इनमें से 'माधुरी[1]', 'क्यों रोते हो[2]', 'पवित्र-प्रेम[3]', 'प्राकृतिक-दृश्य[4]', 'आशा[5]', 'वसन्त की हवा[6]' आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं। कवित्व प्रधान निबन्धों में जब कवित्वपूर्ण भावों तथा रसों की व्यञ्जना होती है तब वे गद्य-गीत के नाम से पुकारे जाते हैं। आधुनिक-युगमें गद्य-गीतों की जो बाढ़ सी देखने को मिलती है उसका जन्म द्विवेदी-युग में ही हुआ था।

द्विवेदी-युग के भावात्मक निबन्ध लेखकों में पण्डित माधव प्रसाद मिश्र और अध्यापक पूर्ण सिंह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के 'मारेसि मोहिं कुठाउँ', 'कछुआ धरम' आदि भावात्मक निबन्ध भी महत्वपूर्ण हैं। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा इस युग के अन्य लेखकों ने अधिकतर विचारात्मक निबन्ध ही लिखे हैं; भावात्मक निबन्धों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया है। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ[7]' जो 'नैषधीय चरित' के आधार पर लिखा गया है, भावात्मक निबन्ध है। इसी प्रकार गोपालराम गहमरी तथा पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने भी कुछ भावात्मक निबन्ध लिखे हैं।

सामान्यतया इस युग के लेखकों ने भावात्मक निबन्धों में प्रसाद गुणयुक्त शैली को ही अधिक अपनाया है, परन्तु कहीं-कहीं ओजगुण की प्रधानता भी देखने को मिलती है। पण्डित माधव प्रसाद मिश्र जब भावना के आवेश में आकर लिखते हैं तो उनकी शैली ओजपूर्ण तथा भाषा चमत्कारयुक्त हो जाती है। 'रामलीला' निबन्ध में वे लिखते हैं—

---

१. शिवपूजन सहाय—'माधुरी', सङ्ख्या २, जुलाई-दिसम्बर १९२२।
२. 'रोनेवाला'—'मर्यादा', नवम्बर १९१९।
३. तोलाराम पारगीर—'प्रभा' (खण्डवा), अक्टूबर १९१३।
४. कुञ्ज—'सरस्वती', अगस्त १९१३।
५. मातादीन शुक्ल—'मर्यादा', जुलाई १९१९।
६. पारसनाथ त्रिपाठी—'इन्दु', मार्च १९१४।
७. महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', नवम्बर १९२२

"जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते हैं, निःसन्देह उसकी सोचनीय दशा है और उससे अन्धकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशा मात्र है, परन्तु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह दीप वही प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और भक्तिभाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्माण्ड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है" इत्यादि।

इसी प्रकार उनके 'धैर्य' निबन्ध में भी ओजपूर्ण शैली देखने को मिलती है—

"जब विपत्ति के तूफान इस जगत में उठते हैं, तब विद्वेष-समुद्र की ऊँची उर्मियाँ आकाश तक प्रलम्बायमान होती हैं वा क्रोधभूत जब इस शरीर को अपने वश में कर लेता है, वा मोह का निविड़ अन्धकार जब विवेक सूर्य को अपने हृदय में अन्तरलीन कर लेता है वा लालच स्वैरिणी जब अपने कटाक्षों का आक्षेप करती है तब ऐसे समय जो स्वस्थ है और धैर्य-पर्वत से च्युत नहीं हुआ है वह अपने हिताहित को समझ सकता है, बुरे और भले कर्म्मों को जान सकता है, मित्रों और शत्रुओं को पृथक कर सकता है।"[२]

ओजपूर्ण शैली के अतिरिक्त भावात्मक निबन्धों में माधुर्य-गुण-पूर्ण तथा अलंकृत शैली भी देखने को मिलती है। 'सौन्दर्य' निबन्ध में जयदेव शर्मा ने इसी शैली का प्रयोग किया है—

"सौंदर्य वस्तुतः एक ऐसा भावात्मक रूप है जिसको देख कर मन, हृदय मुग्ध हो जाते हैं और द्रष्टा अपने को उस पर न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाता है, पतङ्ग रूप में फँसकर दीपक के शिखर पर आ गिरता है। इसी प्रकार सभी प्राणी अपनी कामाभिलाषियों से प्रेरित होकर किसी अन्य सौन्दर्य-सार पर मुग्ध होकर अपने हृदय-सर्वस्व को उसे अर्पण करने पर तत्पर हो जाते हैं। चाहे यह सौन्दर्य या रूप की भूखी आँखें और संसार की अनोखी छवियों से सुसज्जित रूप-लावण्यमयी देह-मूर्त्तियाँ किसी भी प्रयोजन से बनायी गयी हों, पर तो भी मुग्ध हृदय यही कहेगा कि यह रूप सार मेरी रूप की भूखी आँखों की तृप्ति के लिए ही बनाया गया है।"[३]

---

१. माधव प्रसाद मिश्र—'हिन्दी निबन्धमाला', प्रथम भाग, पृ. ५४।

२. हरिश्चन्द्र शर्मोपाध्याय, 'आनन्द कादम्बिनी', माघ-फाल्गुन संवत् १९६३।

३. जयदेव शर्मा—'साहित्य', आषाढ़ संवत १९७६, पृ. ३६।

भावात्मक निबन्धों में प्राय: दो प्रकार की शैलियाँ प्रयुक्त होती हैं—१. धारा और २. विक्षेप। धारा शैली में भावों की धारा समान रूप से प्रवाहित होती रहती है, उसमें समान वाक्यों का ही अधिक प्रयोग होता है। परन्तु विक्षेप शैली में यह धारा टूट सी जाती है। अत्यधिक भावावेश में लेखक अपने भावोद्गारों के बवण्डर को विशृङ्खल रूप में व्यक्त करता है। द्विवेदी-युग के भावात्मक निबन्धों में दोनों प्रकार की शैलियों को अपनाया गया है।

अध्यापक पूर्णसिंह ने 'मजदूरी और प्रेम' निबन्ध में धारा या प्रलाप-शैली का ही प्रयोग किया है—

"तारागणों को देखते-देखते भारतवर्ष अब समुद्र में गिरा कि गिरा। एक कदम और, और धड़ाम से नीचे। कारण केवल इसका यही है कि यह अपने अटूट स्वप्न में देखता रहा है और निश्चय करता रहा है कि मैं रोटी के बिना जी सकता हूँ, पृथ्वी से अपना आसन उठा सकता हूँ, योगसिद्धि द्वारा सूर्य और ताराओं के गूढ़ भेदों को जान सकता हूँ; समुद्र की लहरों पर बेखटके सो सकता हूँ। यह इसी प्रकार के स्वप्न देखता रहा, परन्तु अब तक न संसार ही की और न राम ही की दृष्टि में ऐसी एक भी बात सिद्ध हुई। यदि अब भी इसकी निद्रा न खुली तो बेधड़क शंख फूँक दो! कूच का घड़ियाल बजा दो! कह दो, भारतवासियों का इस असार संसार से कूच हुआ।"

इसी तरह माधव प्रसाद मिश्र जी ने 'रामलीला' निबन्ध में धारा या प्रलाप शैली को ही अपनाया है। वे लिखते हैं—

"जहाँ महा-महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरों से दबी हुई एक छोटी-सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथा कथंचित सन्ताप दूर हो रहा है। जहाँ महाप्रकाश से दिग्दिगन्त उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है।"[२]

द्विवेदी-युग के निबन्धों में विक्षेप शैली के भी अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। द्विवेदी जी ने 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' निबन्ध में इसी शैली को अपनाया है।

---

१ अध्यापक पूर्ण सिंह।

२. माधवप्रसाद मिश्र।

"अरी सखी ! कानों में घुसे हुए इन तमाल-दलों को तू चन्द्रमा के हिरन को क्यों नहीं खिला देती ? खिला, खिला, उन्हें उन के आगे डाल दे। यह नये-नये कोमल पत्ते खाकर वह हिरण यदि कुछ मोटा हो जाय और अपनी मुटाई से चन्द्रमा के कुछ अंश को ढक ले तो जरा देर के लिए मुझे दम लेने की फुरसत मिले। खेद तो इस बात का है कि समय पर बुद्धि काम नहीं देती। अवसर निकल जाने पर वह स्फुरित हो जाती है। अभी-अभी उस दिन, अमावस्या हस्तगत होकर निकल गई। याद ही न आई। नहीं तो मैं उसे बलवत् पकड़ रखती"[1]।

कभी-कभी व्यक्ति इतना शोकाकुल हो जाता है कि उस के मुख से कोई शुद्ध वाक्य नहीं निकलता, इसी प्रकार लेखक भी जब शोक से अत्यधिक आकुल हो उठता है तो उसके भावों का प्रकाशन विशृंखल रूप में होता है। ऐसे समय में लेखक विक्षेप शैली का ही प्रयोग करता है। 'स्वर्गगत बालकृष्ण भट्ट में' कृष्ण जी सहाय ने इसी शैली को अपनाया है—

"हाय, हाय ! क्या सुना ? गजब हो गया। सूर्य अस्त होगया, चन्द्र छिप गया, तारे अन्तर्हित हो गए, देदीप्यमान प्रदीप निर्वापित हुआ, जगत की सारी उज्ज्वलता विलुप्त हुई, संसार सूना हो गया, माता वसुन्धरा का एक अनमोल रत्न लुट गया, हिन्दी का एक प्राचीन स्तम्भ टूट गया। हिन्दी का एक प्रतिभाशाली लेखक चल बसा। हाय ! क्या कहूँ, कुछ कहा नहीं जाता"[2]।

द्विवेदी-युग में यद्यपि भावात्मक निबन्ध अधिक सङ्ख्या में नहीं लिखे गये, परन्तु जो कुछ देखने को मिलते हैं, वे निबन्ध कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। निबन्धों में व्यक्तित्व का समावेश निबन्ध कला का अनिवार्य अङ्ग माना जाता है। इस युग के भावात्मक निबन्धों में लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता दिखायी देता है। भावात्मक निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित होने के लिए पर्याप्त स्थान रहता है। आत्मप्रकाशन ही भावात्मक निबन्धों की अपनी विशेषता है, क्योंकि इनमें लेखक अपनी अनुभूति तथा रुचि एवं अपने आदर्श तथा विचारों का प्रकाशन करता है। भाषा उसके भावोद्गारों के सङ्केत पर नाचती हुई चलती है। इसके अतिरिक्त इन निबन्धों में लेखक, पाठकों से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए

---

[1] 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ'-महावीरप्रसाद द्विवेदी-'सरस्वती', नवम्बर १९२२।

[2] कृष्ण जी सहाय—'साहित्य-पत्रिका' (आरा), अगस्त १९१४।

पूर्ण रूप से स्वतन्त्र रहता है, वह जब चाहे पाठकों को सम्बोधित कर, उन से बातचीत कर सकता है। कभी-कभी लेखक आत्मप्रकाशन में निबन्ध को स्वगत-भाषण का रूप दे देता है। भावात्मक निबन्धों का परम उत्कर्ष यहीं देखने को मिलता है। पण्डित पद्मसिंह शर्मा का 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ'[1] ऐसा ही निबन्ध है। तोताराम पारगीर के 'पवित्र प्रेम' में भी इसी शैली को अपनाया गया है—

"हाँ, वह सुन्दर मुख ! आ हा हा। सन्ध्या समीरण के हिलोरों में आन्दोलन पानेवाली वासन्ती लता के समान शोभायमान वह मोहक मुख! अर्द्ध विकसित मालिका कुसुमों के समान सुन्दर दीखने वाला, अज्ञान दशा वाले निद्रित बालक के अधर पर, सुख-स्वप्न से होने वाले, मृदु मधुर-मन्द-हास्य लीलोत्सव के समान हृदय विलोभन करने वाला, वह 'पवित्र-मुख' न जाने किसके उज्ज्वल भाव से सना हुआ वह स्वर्गीय मुख, जिसका वर्णन करना चाहता हूँ, परन्तु होता ही नहीं, वह मुख, यह देखो, नहीं, अब कहाँ वह दीखने वाला है ! पल भर भी दीखने वाला वह मुख इस हृदय में, इस हृदय में है।"[2]

इस उद्धरण में लेखक की भावनाओं का कवित्वपूर्ण तथा नाटकीय ढङ्ग से प्रकाशन हुआ है। अतएव यहाँ पर निबन्धकार ने कविता तथा नाटक के गुणों को निबन्ध में आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। द्विवेदी युग में यद्यपि कवित्व प्रधान भावात्मक निबन्ध कम लिखे गये, परन्तु आधुनिक गद्य-गीतों का बीज इन्हीं निबन्धों में निहित मिलता है। यही द्विवेदी-युग के भावात्मक निबन्धों का अपना महत्व है।

विचारात्मक निबन्ध

विचारात्मक निबन्धों में भावों की अपेक्षा विचारों की अधिकता होती है। दूसरे शब्दों में, विचारात्मक निबन्धों में हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों में प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित बुद्धिसङ्गत विचारों की अभिव्यञ्जना होती है। उसमें विचारों के बाहुल्य के साथ-साथ तथ्यातथ्य का विवेचन भी रहता है। इस कार्य में निबन्धकार को तर्क का भी सहारा लेना पड़ता है। इस प्रकार के निबन्धों में पाठक की बुद्धि को उत्तेजित करनेवाली सामग्री ही अधिक जुटायी जाती है,

---

१ 'पद्म-पराग' में सङ्गृहीत।

२ तोताराम पारगीर-'प्रभा' (खण्डवा), अक्टूबर १६१३।

परन्तु ऐसे निबन्धों को रोचक तथा सरस बनाने के लिए उनमें कहीं-कहीं वर्णनात्मकता अथवा भावात्मकता का पुट भी देना आवश्यक होता है। ऐसा करने में निबन्धकार सदैव सतर्क रहता है कि वह भावावेश अथवा वर्णन करने की झोंक में कहीं अभीष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या करने से दूर तो नहीं जा रहा है। विचारात्मक निबन्ध अधिकांश उपयोगी और गंभीर विषयों पर ही लिखे जाते हैं। इसके अतिरिक्त सामयिक विषयों की अपेक्षा स्थायी विषयों को ही विचारात्मक निबन्धों के लिए अधिकतर चुना जाता है।

विचारात्मक निबन्धों में लेखक अभीष्ट विषय से सम्बन्धित मूलतत्वों को मस्तिष्क में रखकर निबन्ध-रचना की ओर अग्रसर होता है। निबन्ध को सरल तथा सुबोध बनाने के लिए प्रतिपाद्य विषय से सम्बन्धित परिभाषा चाहने वाले शब्दों को परिभाषित कर, विवेचन तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त प्राकृतिक नियमों के आधार पर, मस्तिष्क में स्थापित मूल तत्वों की व्याख्या करता है और इस भाँति विषय की महत्ता को स्पष्ट कर निबन्ध का अन्त करता है। विचारात्मक निबन्ध की रचना का वैज्ञानिक ढंग इसी प्रकार का होता है।

विचारात्मक निबन्धों में लेखक के एक विचार से दूसरा विचार निःसृत होकर विचारों की शृङ्खला बनाता चलता है। यह शृङ्खला इस भाँति गुथी होती है जिससे पाठक विषय के सम्बन्ध में स्वयं सोचने के लिए विवश हो जाता है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिये हो।[1]

विचारात्मक निबन्धों की दूसरी प्रमुख विशेषता है, भाषा सम्बन्धी शुद्धता तथा उसकी अभिव्यंजना शक्ति को विकसित करना। विचारात्मक निबन्धों में अर्थ-गम्भीरता तथा सूक्ष्म विचारों की बहुलता के साथ-साथ भाषा भी अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर, व्याकरण सम्मत तथा व्यावहारिक होती है। इसके अतिरिक्त इन निबन्धों में भावों तथा विचारों की व्याख्या होती है जिससे भाषा की अभिव्यञ्जना शक्ति भी विकसित होती है। विचारात्मक निबन्धों की तीसरी विशेषता है रोचक तथा सरस होना। यद्यपि इन निबन्धों में विचार-तत्व को ही प्राधानता रहती है परन्तु रागात्मक तत्व की उपेक्षा भी नहीं की जाती। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में, जिन निबन्धों में

---

[1] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ५०६।

बुद्धि और हृदय का समान योग हो वे ही शुद्ध विचारात्मक निबन्ध कहे जा सकते हैं। ऐसे ही निबन्ध शुद्ध साहित्यिक निबन्ध होते हैं।"[1] अतएव विचारात्मक निबन्धों में हृदय और बुद्धि के सामञ्जस्य द्वारा सरसता का समावेश करना अत्यन्त आवश्यक होता है।

भारतेन्दु-युग में भावात्मक निबन्धों की ही प्रधानता रही, विचारात्मक निबन्धों की ओर लेखकों का अधिक ध्यान नहीं गया। द्विवेदी युग में हम इसके ठीक विपरीत स्थिति देखते हैं। इस युग में विचारात्मक निबन्धों की रचना, भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा अधिक हुई। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बेकन के विचार-प्रधान निबन्धों का अनुवाद 'बेकन विचार-रत्नावली' के नाम से प्रकाशित कर हिन्दी के लेखकों को विचारात्मक निबन्ध लिखने को प्रोत्साहित किया। परन्तु जिस आदर्श को द्विवेदी जी ने लोगों के सामने रखा, उसके अनुरूप वह स्वयं न चल सके। इसका प्रमुख कारण यही हो सकता है कि परिस्थितियाँ अनुकुल न थीं। हिन्दी के उस उपेक्षित काल में मनोरञ्जक साहित्य की ही अधिक आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त हिन्दी पाठकों के लिए कुछ उपयोगी सामग्री भी जुटायी जाय जो उनके ज्ञान की वृद्धि तथा रुचि का परिष्कार कर सके—इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने विचार किया कि पाठकवर्ग को अनेक विषयों से परिचित करा दिया जाय जिससे भविष्य में उच्चकोटि के गम्भीर साहित्य की रचना हो सके। इसी कारण उनके अधिकांश निबन्ध उच्चकोटि के विचार-प्रधान निबन्ध न होकर बातों के सङ्ग्रह के रूप में ही रह गये। द्विवेदी जी के अतिरिक्त विचारात्मक निबन्ध लिखने वालों में पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा, बाबू श्यामसुन्दर दास, पण्डित राम चन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि उल्लेखनीय हैं। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि निबन्ध-कला इनके विचारात्मक निबन्धों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गयी है। उत्साह, क्रोध, करुणा आदि के समान भावात्मक विषयों पर उन्होंने उच्च कोटि के विवेचनात्मक निबन्धों की रचना की है।

द्विवेदी-युग के विचारात्मक निबन्धों को सामान्यतया तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—१. विवेचनात्मक, २. आलोचनात्मक और ३. तार्किक निबन्ध। विवेचनात्मक निबन्धों में अभीष्ट विषय का बुद्धिसंगत विचारों के द्वारा प्रतिपादन तथा स्पष्टीकरण कर उसके गुण-दोष का विवेचन रहता है।

[1] 'वाङ्मय-विमर्श,' पृ० ७१।

ऐसे निबन्धों में लेखक का प्रमुख उद्देश्य पाठक को विषय से भली भाँति अवगत कराने का रहता है। इन निबन्धों को विषय के आधार पर दो उपकुलों में विभाजित किया जा सकता है—१. उपयोगी विषयों से सम्बन्धित तथा गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये विवेचनात्मक निबन्ध। प्रथम विभाग के अंतर्गत आने वाले निबन्धों में उपयोगिता को ही अधिक ध्यान में रखा गया है। 'राष्ट्रों के कर्तव्य'[1], 'हम शरीर से कैसे अच्छे रह सकते हैं',[2] 'विज्ञान का समाज पर प्रभाव',[3] 'विदुषी स्त्रियों का समाज पर प्रभाव',[4] 'साहित्य और समाज',[5] 'भारतीय समाज का आदर्श',[6] 'व्यक्ति और समाज',[7] 'साहित्य और विज्ञान',[8] 'समाज और व्यक्ति',[9] 'इतिहास और धर्म',[10] 'राष्ट्र के लक्षण',[11] 'विज्ञान और हमारा जीवन',[12] 'इतिहास क्या है',[13] 'लेखन-कला'[14] आदि निबन्धों की गणना इसी विभाग के अन्तर्गत की जा सकती है। इन निबन्धों में पाठक की ज्ञानवृद्धि की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित निबन्धों में मनोविकारों अथवा भावों की व्याख्या रहती है। इन निबन्धों में भावों का मनोविज्ञान की भाँति शास्त्रीय विश्लेषण न होकर उसके व्यावहारिक स्वरूप ही की विवेचना प्रमुख रूप से की जाती है। 'परोपकार',[15] 'सभ्यता',[16]

---

[1] जनार्दन भट्ट—'मर्यादा', जुलाई १९१२।

[2] कालिदास माणिक—'मर्यादा', एप्रिल १९१२।

[3] एक दर्शक—'मर्यादा', जून-जुलाई १९१३।

[4] मुकुन्दीलाल वर्मा—'मर्यादा', जून-जुलाई १९१३।

[5] ओझा वामदेव शर्मा—'मर्यादा', सितम्बर १९१६।

[6] रामशरण उपाध्याय—'मर्यादा', अक्टूबर १९१७।

[7] शिवदुलारे मिश्र—'कान्यकुब्ज पत्रिका', मार्च १९१६।

[8] जयदेवसिंह—'साहित्य', श्रावण संवत् १९७१।

[9] गोवर्द्धनलाल—'लक्ष्मी', जुलाई १९१८।

[10] परमानन्द—'श्री शारदा', मार्च १९२३।

[11] धीरेन्द्र वर्मा—'श्री शारदा', सितम्बर १९२२।

[12] कल्याणशङ्कर दुबे—'श्री शारदा', वैसाख संवत् १९८०।

[13] जनार्दन भट्ट—'सरस्वती', जनवरी १९१३।

[14] सत्यदेव—'इन्दु', मार्च, अप्रैल १९१९।

[15] यशोदानन्दन अखौरी—'साहित्य', कार्तिक संवत् १९७१।

[16] लक्ष्मीधर वाजपेयी—'कान्यकुब्ज', जुलाई १९१४।

'क्रोध',[१] शिष्टाचार'[२], 'प्रतिभा'[३], 'चतुराई और चालाकी'[४], 'क्रोध'[५], 'सत्य'[६], 'आदतें'[७], 'लोभ'[८], 'चित्तवृति'[९], 'न्याय 'और दया'[१०], 'सौन्दर्य और सदाचार'[११] आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं। 'काशीनागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के सत्रहवें, अठारहवें, उन्नीसवें, तथा तेईसवें भागों में प्रकाशित शुक्लजी के 'क्रोध', 'श्रम', 'निद्रारहस्य' 'घृणा', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'लोभ या प्रेम' आदि निबन्ध भी इसी कोटि के अन्तर्गत आयेंगे। 'आदर्शजीवन'[१२] और 'आत्म-शिक्षण'[१३] इत्यादि ग्रन्थों के अधिकांश निबन्ध मनौवैज्ञानिक विषयों पर ही लिखे गये हैं। इस प्रकार के निबन्धों के श्रेष्ठ उदाहरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही प्रस्तुत किये हैं। इन निबन्धों में, शुक्ल जी के गंभीर अध्ययन, मनन तथा चिन्तन से प्रसूत विचार अथवा सिद्धान्त, व्यक्तिगत रूप से व्यक्त किये गये हैं।

विवेचनात्मक निबन्धों की एक तीसरी कोटि भी हो सकती है। ऐसे निबन्धों में साहित्य अथवा उसके अंग एवं उपाङ्गों की विवेचना, साहित्य-शास्त्र के विषयों के सहारे की जाती है। 'साहित्यालोचन'[१४] और 'विश्व-साहित्य'[१५] में संगृहीत निबन्ध इसी वर्ग के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। 'भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव'[१६], 'कविता का मर्म'[१७], 'भाषा और

---

[१] पाण्डेय लोचन प्रसाद शर्मा—'साहित्य-पत्रिका' (आरा), जुलाई १९१९।

[२] कामता प्रसाद गुरु—'श्री शारदा', चैत्र पूर्णमा सं० १९७९।

[३] रामनारायण मिश्र—'कमला', ज्येष्ठ सं० १९६५।

[४] पं० रामशङ्कर व्यास—'पियूष-प्रवाह', माघ शुक्ल १५, सं० १९६३।

[५] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जून १९०५।

[६] काशीनाथ शर्मा—'सरस्वती', १९१८।

[७] गोपाल दामोदर तामस्कर—'सरस्वती', अक्टूबर १९२०।

[८] महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', एप्रिल १९०८।

[९] कृष्णविहारी मिश्र—'लक्ष्मी', जून १९१०।

[१०] मिश्रबन्धु—'सरस्वती', एप्रिल १९०८।

[११] दरियाऊ उपाध्याय—'समालोचक' (गन्धौली), अक्टूबर १९२५।

[१२] पं० रामचन्द्र शुक्ल।

[१३] मिश्रबन्धु।

[१४] श्यामसुन्दर दास।

[१५] पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

[१६] कृष्ण विहारी मिश्र—'इन्दु', सितम्बर १९१६।

[१७] चन्द्र मनोहर मिश्र—'इन्दु', अगस्त १९१५।

साहित्य',[१] 'कवि और कविता',[२] 'कविता क्या है',[३] 'कविता और दृश्य वर्णन'[४], 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य'[५], 'कवि और कविता'[६], 'साहित्य क्या है'[७], 'कवि और कविता'[८], 'समालोचना'[९], 'अपनी भाषा पर विचार'[१०] आदि इसी प्रकार के निबन्ध हैं।

विचारात्मक निबन्धों का दूसरा वर्ग आलोचनात्मक निबन्धों का है। द्विवेदी-युग में आलोचनात्मक निबन्ध विशेष रूप से लिखे गये हैं। यदि यह कहा जाय कि आलोचनात्मक निबन्धों का जन्म तथा विकास द्विवेदी-युग में ही हुआ तो असङ्गत न होगा। भारतेन्दु-युग में लिखी गयी आलोचनाओं में गुण-दोष दिखाने की ही प्रवृत्ति अधिक मिलती है, उन्हें सत्समालोचना नहीं कहा जा सकता। द्विवेदी-युग के आलोचनात्मक निबन्धों में 'गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र-चित्रण'[११], 'हमारे कवि और समालोचक'[१२], 'गोस्वामी तुलसीदास'[१३], 'गोस्वामी तुलसीदास की भक्ति'[१४], 'सेनापति और शीतकाल'[१५], 'घासीराम का विरहवर्णन'[१६], 'हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ'[१७], 'सनातनधर्म और

---

[१] द्वारिकानाथ मैत्र—'इन्दु', फरवरी १६१५।

[२] महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जुलाई १६०७

[३] रामचन्द्र शुक्ल—'सरस्वती', एप्रिल १६०६।

[४] ईश्वर चन्द्र ब्रह्मचारी—'सरस्वती', जनवरी १६२४।

[५] रामचन्द्र शुक्ल—'माधुरी', जुलाई १६२३।

[६] जयशङ्करप्रसाद—'इन्दु', कला २, किरण १, सं० १६६७।

[७] कन्नोमल—'साहित्य', श्रावण सं० १६७६।

[८] आनन्दप्रसाद श्रीवास्तव—'सम्मेलन-पत्रिका', ज्येष्ठ सं० १६८१।

[९] कृष्णविहारी मिश्र—'मर्यादा', जून १६१२।

[१०] रामचन्द्र शुक्ल—'आनन्दकादम्बिनी', मेघ ३ से ६, माला ७, सं० १६६४।

[११] ऋषीश्वरनाथ भट्ट—'प्रभा'(खँडवा), सं० १६७० की अनेक सङ्ख्याओं में प्रकाशित।

[१२] बदरीनाथ भट्ट—'सरस्वती', मई १६१५।

[१३] गुलाबराय—'सम्मेलन-पत्रिका', आश्विन सं० १६७६।

[१४] राधारमण भार्गव—'माधुरी', एप्रिल १६२४।

[१५] कृष्णविहारी मिश्र—'सरस्वती', अक्टूबर १६२४।

[१६] विपिन बिहारी मिश्र—'सम्मेलन-पत्रिका', भाद्रपद सं० १६७६।

[१७] मन्नन द्विवेदी—'मर्यादा', मार्च १६१३।

रामचरितमानस'[१], 'वर्तमान हिन्दी साहित्य में नाटक'[२], 'हिन्दी समालोचना की समालोचना'[३], 'चन्दावली-चमत्कार'[४] आदि उल्लेखनीय हैं । इन निबन्धों में किसी कवि की अथवा उसकी एक कृति की अथवा किसी युग के साहित्य की आलोचना प्रस्तुत की गयी है । इनमें साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तों का सहारा लेकर लिखी जानेवाली आलोचनाएँ अच्छी बन पड़ी है । पण्डित महावीर प्रसाद का 'हिन्दी प्रदीप'[५] भी आलोचनात्मक निबन्ध ही है । आलोचनात्मक निबन्धों के लिखने में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विशेष सफलता प्राप्त की और इनकी इस प्रकार की रचनाओं को आदर्श माना जाता है । 'भ्रमरगीतसार','जायसी ग्रन्थावली','तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिकाओं को आलोचनात्मक निबन्ध ही कहा जायगा ।

विचारात्मक निबन्धों का तीसरा वर्ग तार्किक निबन्धों का होता है । तार्किक निबन्धों में अभीष्ट विषय का निरूपण तर्क के आधार पर किया जाता है । इस प्रकार के निबन्धों में विपक्षियों के मतों का खण्डन तथा अपने विचारों का मण्डन किया जाता है । तार्किक निबन्धों में विषय को स्पष्ट तथा हृदयङ्गम बनाने के लिए कभी-कभी दृष्टान्तों का भी सहारा लेना पड़ता है । पाठकों को अपने अनुकूल विचारवाला बनाने के लिए निबन्धकार उन्हीं बातों पर अधिक जोर देता है जो पाठक के मानस तथा हृदय जगत से विशेष रूप से सम्बन्ध रखती हैं । इन निबन्धों में अधिकतर दो प्रकार की शैलियाँ अपनायी जाती हैं—निगमन और आगमन । निगमन शैली में निबन्धकार एक सिद्धान्त स्थापित कर उसको सिद्ध करने के लिए अनेक तर्कों तथा दृष्टान्तों को उपस्थित कर स्थापित सिद्धान्त को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है; परन्तु आगमन शैली में निबन्धकार अनेक दृष्टान्तों को प्रस्तुत कर उनसे एक सिद्धान्त निकालता है । अधिकतर लेखक राजनीतिक, सामाजिक, गवेषणात्मक, और दार्शनिक लेखों में तार्किक शैली का ही प्रयोग करते हैं ।

द्विवेदी-युग में तार्किक निबन्धों की रचना भी प्रचुर सङ्ख्या में देखने के मिलती है । इन निबन्धों को दो उपविभागों में विभाजित किया जा सकता

---

[१] श्री बिन्दु ब्रह्मचारी—'साहित्य', आषाढ़ सं० १९७३ ।

[२] मुकुटधर शर्मा पाण्डेय—'प्रभा'(खण्डवा), मार्गशीर्ष १९७० ।

[३] कामताप्रसाद गुरु—'प्रभा' (खण्डवा), वैसाख सं० १९७९ ।

[४] कृष्णविहारी मिश्र—'इन्दु', जनवरी १९१४ ।

[५] महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', अगस्त १९०६ ।

है—१. सामान्य विषयक और २. गवेषणात्मक। सामान्य विषयक निबन्धों के अन्तर्गत सामाजिक, राजनीतिक अथवा आध्यात्मिक निबन्धों को रखा जा सकता है। 'आत्मा का अमरत्व',[1] 'राष्ट्रभाषा',[2] 'क्या हिन्दी नाम की कोई भाषा नहीं है',[3] 'स्त्री-शिक्षा',[4] 'स्थायी शान्ति कब हो सकती है'[5] आदि तार्किक निबन्धों के प्रथम विभाग के अन्तर्गत रखे जायँगे। गवेषणात्मक निबन्ध 'काशीनागरी-प्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं में अधिकतर प्रकाशित हुआ करते थे। ऐसे निबन्धों में अपने कथन की पुष्टि के लिए अनेक दृष्टान्तों तथा उदाहरणों को प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार के निबन्धों की रचना करनेवालों में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी, गौरी-शङ्कर हीराचन्द ओझा, श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। 'वररुचि का समय',[6] 'उलूलु ध्वनि',[7] 'युधिष्ठिर का समय',[8] 'महाकवि',[9] 'युधिष्ठिर का समय',[10] 'देवनागरीलिपि का उत्पत्ति काल',[11] 'कालिदास का समय',[12] निर्दोष शिवराज',[13] 'महात्मा बुद्ध की मृत्यु कब हुई',[14] 'आर्यों का आदि स्थान',[15] 'बौद्ध और जैन',[16] 'मौर्य',[17] 'श्री

---

[1] माधवराव सप्रे—'सरस्वती', नवम्बर १९०७।

[2] पण्डित मनोरथ पाण्डेय—'इन्दु', मई १९१५।

[3] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', दिसम्बर १९१३।

[4] पुरुशोत्तम प्रसाद शर्मा—'भारतेन्दु', दिसम्बर १९०५।

[5] वासुदेव शास्त्री—'मर्यादा', अगस्त १९१४।

[6] बाबूराव पराड़कर—'सरस्वती', मार्च १९०९।

[7] चन्द्रधर गुलेरी—'सरस्वती', जून १९१४।

[8] गिरजा प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', अप्रैल १९०५।

[9] कृष्णविहारी मिश्र—'इन्दु', जून १९१५।

[10] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जून १९०५।

[11] ,, ,, ,, अक्टूबर १९०५।

[12] ,, ,, ,, जून १९०७।

[13] कृष्णविहारी मिश्र—'इन्दु', जून १९१२।

[14] ,, —'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण ६, संवत् १९७०।

[15] जगन्मोहन वर्मा—'काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', फरवरी १९१२।

[16] पण्डित रामनारायण दूगड़ ,, सातवाँ भाग, १९०३।

[17] जयशङ्कर प्रसाद ,, फरवरी १९१२।

रामचन्द्र का ज्येष्ठ पुत्र कौन था',[1] 'जयदेव का समय'[2] आदि निबन्धों की गणना गवेषणात्मक निबन्धों के अन्तर्गत की जा सकती है। ये निबन्ध इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

विचारात्मक निबन्धों में दो प्रकार की शैलियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं—१. समास और २. व्यास। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने इन दोनों शैलियों को अपनाया है। समास शैली में कोई बात थोड़े और नपे-तुले शब्दों में कही जाती है। इसमें 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' वाली उक्ति चरितार्थ होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस शैली को विशेष रूप से अपनाया तथा विचारात्मक निबन्धों में इसी शैली को प्रयोग में लाने के लिए बल दिया है[3]। 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' से एक उदाहरण समासशैली पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त होगा—

"बिम्ब ग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' में दिखायी पड़ता है। काव्य में 'विभाव' मुख्य समझना चाहिए। भावों के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला और सबसे आवश्यक काम है। यों तो जिस प्रकार विभाव, अनुभाव आदि में हम कल्पना का प्रयोग पाते हैं, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलङ्कारों में भी, पर जब रस ही काव्य में प्रधान वस्तु है तब उसके संयोजकों में कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है।"[4]

व्यास शैली में प्रतिपाद्य वस्तु को पाठक के लिए बोधगम्य बनाने के लिए उचित फैलाव के साथ समझा-समझा कर कहने की प्रवृत्ति रहती है। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्याम सुन्दरदास, मिश्रबन्धु आदि लेखकों ने इसी शैली को ही अधिक अपनाना है। 'आत्मशिक्षण' में 'मित्रता' नामक निबन्ध में मिश्रबन्धु लिखते हैं—

"शुद्ध मित्रता केवल समता सिद्धान्त पर हो सकती है। जो लोग अपने को समान नहीं समझते उनमें आश्रयी-आश्रित एवं ऐसा ही कोई और सम्बन्ध भले ही हो किन्तु शुद्ध मित्रता नहीं हो सकती। शुद्ध मित्रता के लिए

---

[1] मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या 'काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', आठवाँ भाग।
[2] हरिप्रसाद जी पालीध ,, जनवरी-फरवरी १९१७।
[3] देखिए रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ५०१।
[4] रामचन्द्र शुक्ल—'माधुरी', सङ्ख्या १, सन् १९२३।

मित्रों के धन, वैभव, बुद्धि, विद्या, अधिकार, ऐश्वर्यादि में समानता होनी आवश्यक नहीं। किन्तु यह आवश्यक है कि किन्हीं भी सच्चे या झूठे कारणों से वे एक दूसरों को वास्तव में समान समझते और ऐसा ही व्यवहार आपस में करते हों।"[१]

इसी प्रकार पण्डित कृष्ण बिहारी मिश्र ने भी अपने निबन्धों में व्यास शैली का ही अधिक प्रयोग किया है। 'भाषा की मधुरता का कविता पर प्रभाव' निबन्ध से एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

"मधुर शब्द लाक्षणिक पद है। मधुरता गुण की पहचान जिह्वा से होती है, शकर का एक कण जीभ पर पहुँचा नहीं कि उसने बतला दिया कि यह मीठा है; पर शब्द तो चक्खा नहीं जा सकता फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब ? यहाँ पर मधुरता गुण का आरोप शब्द में करने से सारोपा लक्षणा है। कहने का मतलब यह है कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को मीठी लगने से आनन्द पहुँचाने वाली हैं उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द जो कान में पड़ने से आनन्द पहुँचाता है, 'मधुर शब्द' कहा जावेगा।"[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग में विभिन्न प्रकार के विचारात्मक निबन्ध अत्यधिक सङ्ख्या में लिखे गये। इन निबन्धों से भाषा में प्रौढ़ता तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता आ गयी। यद्यपि द्विवेदी जी ने तथा इनके अन्य समकालीन लेखकों ने उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध न लिखकर साधारण पाठक के ज्ञान-विस्तार तथा रुचि परिष्कार के लिए ही लिखे हैं, परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि लेखकों ने ऐसे निबन्धों के उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किये। इनके निबन्धों में विषय और व्यक्तित्व का सुन्दर सामञ्जस्य देखने को मिलता है, और इस तरह निबन्धकला का विकसित रूप हमको उपलब्ध होता है। इस युग के विचारात्मक निबन्ध हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं और उनका यही महत्व है।

विषय के आधार पर निबन्धों के भेद

द्विवेदी-युग में विविध विषयों पर निबन्धों की रचना हुई। द्विवेदी जी ने स्वयं सामयिक तथा स्थायी, उपयोगी तथा गम्भीर आदि सभी विषयों पर लेखनी चलायी, साथ ही अन्य लोगों को भी निबन्ध रचना की ओर प्रेरित किया। विषय के आधार पर निबन्धों को साधारणतया सात वर्गों में विभाजित

---

[१] 'आत्मशिक्षण'—मिश्रबन्धु, पृ० ५१-५२।

[२] कृष्ण विहारी मिश्र—'इन्दु,' सितम्बर १९१६, पृ० २२२।

किया जा सकता है:—१ साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी, २ विज्ञान तथा आविष्कार सम्बन्धी, ३ ऐतिहासिक एवं पुरातत्व विषयक, ४ भौगोलिक, ५ जीवन चरित विषयक, ६ अध्यात्म विषयक तथा ७ विविध उपयोगी विषयों पर लिखे गये निबन्ध। इस विषय-विस्तार से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि द्विवेदी-युग में कितनी प्रचुरता से निबन्ध-साहित्य प्रस्तुत किया गया।

साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी निबन्धों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—१ भाषा और व्याकरण सम्बन्धी, २ लेखक तथा ग्रन्थों की परिचयात्मक आलोचना सम्बन्धी, ३ साहित्य शास्त्र विषयक तथा ४ सामयिक साहित्य सम्बन्धी निबन्ध। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस समय 'सरस्वती' के सम्पादन का भार अपने ऊपर लिया उस समय हिन्दी भाषा की बड़ी ही अव्यवस्थित दशा थी। न शब्दों के रूप ही स्थिर हो सके थे और न व्याकरण के नियमों का पालन ही उचित रूप से होता था। भाषा की इस अव्यावहारिकता, अशुद्धता और शिथिलता को दूर करने के लिए उन्होंने भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी अनेक निबन्ध लिखे। इसके अतिरिक्त 'सरस्वती' में जो लेख छपने आते थे, उनकी त्रुटियों का संशोधित कर वे प्रकाशित किया करते थे। 'भाषा और व्याकरण,'[1] 'हिन्दी नवरत्न,'[2] आदि निबन्ध हिन्दी भाषा के गद्य को व्याकरण के नियमों के विरुद्ध लिखे जाने के ही विरोध में लिखे गये थे। इन लेखों से हिन्दी संसार में अपूर्व जाग्रति दिखायी दी और हिन्दी भाषा तथा व्याकरण से सम्बन्धित अनेक निबन्धों की रचना हुई। गोविन्दनारायण मिश्र के 'प्राकृत-विचार,'[3] विभक्ति विचार'[4] आदि निबन्धों की रचना भी इसी उद्देश्य से हुई। कामता प्रसाद गुरु के सरस्वती की अनेक सङ्ख्याओं में भाषा तथा व्याकरण सम्बन्धी लेख निकले। पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'हिन्दी लिंग-विचार'[5] निबन्ध भी इसी विषय पर महत्व पूर्ण निबन्ध है।

लेखक और ग्रन्थों की परिचयात्मक आलोचना-सम्बन्धी निबन्ध भी इस युग में अधिक सङ्ख्या में लिखे गये। इस कार्य में भी पण्डित महावीर

---

[1] 'निबन्ध-निचय' में सङ्गृहीत।

[2] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', फरवरी १९०६।

[3] ,, ,, १९१२, पृ० ६९।

[4] 'गोविन्द-निबन्धावली' में सङ्गृहीत।

[5] ,,

प्रसाद द्विवेदी ने ही पथ-पदर्शक का कार्य किया। 'सरस्वती' की अनेक सङ्ख्याओं में उनके इस विषय पर लिखे गये निबन्ध देखे जा सकते हैं। 'विचार-विमर्श' नामक निबन्धों के संग्रह में 'पुस्तक परिचय खण्ड' तथा 'प्राचीन पण्डित और कवि' पुस्तक में ऐसे ही निबन्धों को सङ्गृहीत किया गया है। द्विवेदी जी के इस कार्य से अनेक समकालीन लेखक प्रभावित अवश्य हुए होंगे क्योंकि उस युग में ऐसे निबन्धों की एक बाढ़ सी देखने को मिलती है। माधवराव सप्रे, लाला भगवानदीन, काशी प्रसाद जायसवाल, मिश्रबन्धु, कृष्ण बिहारी मिश्र, आदि लेखकों ने इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की 'भ्रमरगीतसार', 'जायसी प्रश्नावली' 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिकाएँ भी इसी विभाग के अन्तर्गत गिनी जा सकती हैं।

साहित्य-शास्त्र से सम्बन्धित निबन्धों में साहित्यक समीक्षा के लिए कुछ सिद्धान्तों का निर्धारण तथा उनकी व्याख्या की जाती है। द्विवेदी जी ने इस क्षेत्र में भी 'नाट्य-शास्त्र',[१] 'कवि और कविता',[२] 'कवि बनने के लिए सापेक्ष साधन,'[३] 'उपन्यास रहस्य'[४] आदि निबन्धों की रचना की। बाबू श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यालोचन' और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'विश्व-साहित्य' में सङ्गृहीत निबन्धों की गणना भी इसी विभाग के अन्तर्गत की जा सकती है। इनके अतिरिक्त पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु, कृष्ण-बिहारी मिश्र आदि लेखकों ने भी इस प्रकार के निबन्धों की रचना की है।

द्विवेदी-युग में सामयिक साहित्य से सम्बन्धित निबन्ध भी लिखे गये। इनमें तत्कालीन लेखकों तथा साहित्य की अवस्था पर पर्याप्त रूप में प्रकाश पड़ता है। 'हिन्दी की वर्तमान दशा,'[५] 'हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ,'[६] 'वर्तमान हिन्दी काव्य की भाषा,'[७] 'हिन्दी कविता किस ढंग की हो,'[८] 'हमारे

---

[१] महावीर प्रसाद द्विवेदी—सन् १६०३ में लिखा गया और १६१० में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ।

[२] 'रसज-रञ्जन' में सङ्गृहीत।

[३] रसज्ञ-रञ्जन में सङ्गृहीत।

[४] 'साहित्य-सन्दर्भ' में सङ्गृहीत।

[५] रामावतार शर्मा—'मर्यादा', सितम्बर १६११।

[५] मन्नन द्विवेदी—'मर्यादा', मार्च १६१३।

[७] बदरी नाथ भट्ट—'सरस्वती', फरवरी १६१३।

[८] मैथिली शरण गुप्त—'सरस्वती', दिसम्बर १६१४।

[९] बदरी नाथ भट्ट—'सरस्वती', मई १६१५।

कवि और समालोचक,'[१] 'हिन्दी की वर्तमान अवस्था,'[२] 'सिंहावलोकन,'[३] 'अनुवादग्रन्थों की आवश्यकता' आदि निबन्धों में तत्कालीन साहित्य पर काफी प्रकाश डाला गया है।

विषय के आधार पर निबन्धों का दूसरा वर्ग विज्ञान तथा आविष्कार सम्बन्धी निबन्धों का है। इन निबन्धों में विज्ञान की महत्ता तथा उसके आविष्कारों से मनुष्य जाति को जो लाभ हुआ है, उस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। ये निबन्ध पाठक को विविध विषयों से परिचित कराने तथा उसके ज्ञान-विस्तार की दृष्टि से ही लिखे गये थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' में स्वयं ऐसे निबन्ध तो लिखते ही थे साथ ही अन्य लेखकों को भी ऐसे निबन्धों के लिखने के लिए प्रोत्साहन देते थे। 'विचार-विमर्श' का 'विज्ञानखंड' इनके ऐसे ही निबन्धों का सङ्ग्रह है। जगन्नाथखन्ना, रामदास गौड़, सूर्य नारायण दीक्षित, गोपालस्वरूप भार्गव आदि ने भी विज्ञान विषयक निबन्धों की रचना की है। 'विद्युत की चालक-शक्ति',[३] 'वायस्कोप',[४] 'प्राणशास्त्र',[५] 'विज्ञान की उपयोगिता',[६] 'विज्ञान का चमत्कार',[७] 'आधुनिक विज्ञान',[८] 'रेडियम',[९] 'पौधों की नींद',[१२] 'विज्ञान और देशानुराग',[११] 'वर्गसन का सृजनात्मक विकास'[१३] आदि निबन्धों की गणना इसी विभाग के अन्तर्गत की जा सकती है। यद्यपि इन निबन्धों में कलात्मक तथा रसात्मकता का एक प्रकार से अभाव है, परन्तु उपयोगिता की दृष्टि से इनका अपना महत्व है।

---

[१] जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—'निबन्ध-निचय' में सङ्गृहीत।
[२] " "
[३] रूपनारायण पाण्डेय—'सरस्वती', मई १९१३।
[४] जगद्विहारी सेठ —'इन्दु', जुलाई-अगस्त १९१५।
[५] शोभाचन्द्र - 'इन्दु', सितम्बर १९१६।
[६] जगन्नाथ खन्ना—'सरस्वती', जुलाई १९१७।
[७] " 'सरस्वती', अगस्त १९१८।
[८] लक्ष्मी कांत केसरी—'सरस्वती', जनवरी १९२३।
[९] गोपाल स्वरूप भार्गव—'सरस्वती', जनवरी १९२२।
[१०] दशरथ लाल श्रीवास्तव—'माधुरी,' एप्रिल १९२३।
[११] सूर्यनारायण दीक्षित—'सरस्वती', १९०५,
[१२] रामदास गौड़—'विज्ञान', जुलाई १९१६।
[१३] गुलाबराय—'विज्ञान', मार्च १९२७।

जीवन चरित सम्बन्धी निबन्धों के विषय में विवरणात्मक निबन्धों के प्रसङ्ग में उल्लेख किया जा चुका है। विषय के अनुसार निबन्धों का चौथा भेद इतिहास तथा पुरातत्व विषयक निबन्धों का है। इस प्रकार के निबन्धों की रचना भी द्विवेदी- युग में पर्याप्त सङ्ख्या में हुई। ऐसे निबन्धों का उल्लेख घटनात्मक तथा गवेषणात्मक निबन्धों के अन्तर्गत हो चुका है; अतएव यहाँ पर उनके विषय में फिर लिखने की आवश्यकता नही है। भौगोलिक निबन्धों में स्थल, नगर, जाति, प्रदेश आदि का वर्णन रहता है। उन निबंधों के विषय में भी वर्णनात्मक निबन्धों के प्रसंग में बहुत कुछ लिखा जा चुका है।

विषय के अनुसार निबन्धों का छठा रूप अध्यात्म विषयक निबन्धों का है। द्विवेदी-युग के लेखकों ने इस प्रकार के निबन्धों पर भी अपनी लेखनी चलायी है। 'सरस्वती' की फाइलों को देखने से ज्ञात होता है कि ऐसे निबन्धों की रचना की ओर लोगों का अत्यधिक ध्यान जा चुका था। 'सरस्वती' के लेखों की विषय-सूची में एक वर्ग अध्यात्म विषयक निबन्धों का रहता था। इस प्रकार के निबन्धों की रचना करनेवालों में पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधवराव सप्रे, कन्नोमल, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग में लिखे गये 'ईश्वर का अस्तित्व'[1], 'वैदिक देवता'[2], 'अद्वैत सिद्धि'[3], 'साङ्ख्य-दिग्दर्शन'[4], 'वैशेषिक दर्शन'[5], 'मन: संयोग'[6] 'सृष्टि-विचार'[7], 'अनन्य भक्ति'[8], 'परा और अपरा विद्या'[9], 'कर्म और उसका फल'[10] आदि निबन्धों की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जा सकती है। इन निबन्धों में लेखक की दार्शनिक प्रवृत्ति तथा पाठक की आत्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पर्याप्त सामग्री है।

---

[1] रामबुझावन सिंह—'इन्दु', अप्रैल १९५३।
[2] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जून १९२१।
[3] चक्रपाणि शर्मा—'सरस्वती', नवम्बर १९२४।
[4] ईश्वर चन्द्र ब्रह्मचारी—'सरस्वती', जून १९१५।
[5] रूपनारायण पाण्डेय—'सरस्वती', जनवरी १९२२।
[6] सन्तराम—'सरस्वती', मई, १९२५।
[7] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', मई १९०५।
[8] गङ्गाप्रसाद महता—'साहित्य', आषाढ़ संवत् १९७९।
[9] अविनाशी—'साहित्य', मार्गशीर्ष, संवत् १९७९।
[10] गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री—'कान्यकुब्ज-हितकारी पत्रिका', मई १९१४।

विविध विषयक निबन्धों के अन्तर्गत उन सभी निबन्धों की गणना की जा सकती है जो उक्त कोटियों से अन्तर्गत नहीं आ सकते हैं। राजनीति, समाज आदि से सम्बन्धित निबन्धों को इसी वर्ग में परिगणित किया जायगा। ऐसे निबन्धों में वे सभी निबन्ध गिने जायँगे जिनमें तत्कालीन परि स्थितियों से प्रेरित होकर साहित्यकार ने समाज की तत्कालीन दशा का चित्र खींचा है।

द्विवेदी-युग के निबन्धों के विषय-विस्तार को देख कर यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता हैं कि इस युग के निबन्धकारों की दृष्टि से जीवन अथवा साहित्य का कोई भी अङ्ग नहीं बचा है जिस पर उन्होंने निबन्ध न लिखा हो। इसके अतिरिक्त उन्होंने निबन्धों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य जीवन के लिए है, उसका कोई अन्य उद्देश्य नहीं है।

रूप के आधार पर निबन्धों के भेद

निबन्धों के वर्गीकरण का तीसरा आधार निबन्धों का स्वरूप है। द्विवेदी युग के निबन्ध चार रूपों में देखने को मिलते हैं—पुस्तक के रूप में, भूमिका के रूप में, लिखित व्याख्यान अथवा भाषणों के रूप में, तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के रूप में। पुस्तकाकार निबन्धों में अभीष्ट विषय के अङ्गों एवं उपाङ्गों की विवेचना भिन्न अध्यायों में प्रस्तुत की जाती है। ऐसे निबन्धों की यह प्रमुख विशेषता होती है कि यदि उनके विभिन्न अध्यायों को अलग कर दिया जाय तो वे एक स्वतन्त्र निबन्ध का रूप धारण कर लेंगे और यदि उन्हें पुस्तक के रूप में रहने दिया जाय तो अभीष्ट विषय के एक महत्वपूर्ण अङ्ग पर प्रकाश डालते हुए प्रतिपादित विषय से सम्बन्धित निबन्ध को पूर्णता प्रदान करते हैं। रामचन्द्र शुक्ल का 'आदर्श जीवन', मिश्रबन्धु का 'आत्म-शिक्षण', द्विवेदी जी का 'नाट्यशास्त्र', गोविन्दनारायण मिश्र का 'विभक्ति-विचार', रामदास गौड़ का 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद' आदि की गणना इसी प्रकार के निबन्धों के अन्तर्गत की जा सकती है।

निबन्धों का दूसरा रूप भूमिका अथवा प्रस्तावना के रूप में देखने को मिलता है। ऐसे निबन्धों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वह निबन्ध जिनमें लेखक स्वयं अपनी रचना के विषय में कुछ लिखता है तथा द्वितीय, जिनमें सम्पादक अथवा सङ्ग्रहकर्ता पुस्तक का परिचय तथा समीक्षा उपस्थित करता है। प्रथम विभाग के अन्तर्गत आने वाले निबन्ध "'प्रियप्रवास' की भूमिका", सुमित्रानन्दन पन्त के "'पल्लव' का 'प्रवेश'" आदि कहे जा सकते हैं। इनमें लेखक रचना अथवा कृति के विषय में अपने

विचार निवेदक के रूप में देता है। द्वितीय कोटि में रामचन्द्र शुक्ल की 'भ्रमर गीत-सार', 'तुलसी-ग्रन्थावली' तथा 'जायसी-ग्रन्थावली' की भूमिकाएँ, अयोध्यासिंह उपाध्याय का 'कबीर-वचनावली' का 'मुखबन्ध', कृष्णविहारी मिश्र की 'मतिराम-ग्रन्थावली' की भूमिका आदि की गणना की जा सकती है। इनमें लेखक सम्पादित अथवा सङ्गृहीत रचना के विषय में अपने विचार प्रकाशित करता है।

रूप की दृष्टि से निबन्धों की तीसरी कोटि लिखित व्याख्यानों तथा भाषणों की है। साहित्य सम्मेलनों में सभापति अथवा स्वागताध्यक्ष आदि के रूप में दिये हुए व्याख्यानों के लिखित रूप की गणना इसी विभाग के अन्तर्गत की जा सकती है। 'गोविन्द-निबन्धावली' में सङ्गृहीत गोविन्द नारायण मिश्र का द्वितीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में दिया हुआ भाषण, 'निबन्ध-निचय' में पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों में दिये हुए भाषण, 'पद्म-पराग' में पद्मसिंह शर्मा के दो भाषण जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों के अधिवेशनों पर दिये गये थे, प्रेमचन्द के 'कुछ-विचार' सङ्ग्रह में 'साहित्य का उद्देश्य' आदि भाषणों के लिखित रूप इसी प्रकार के निबन्ध कहे जा सकते हैं। इन निबन्धों में वक्तृतात्मकता तथा ओजपूर्ण शैली देखने को मिलती है।

निबन्धों का चौथा रूप द्विवेदी-युग की अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों के रूप में देखने को मिलता है। द्विवेदी-युग के प्रमुख लेखक तत्कालीन किसी-न-किसी पत्रिका के सम्पादक अथवा सहायक सम्पादक अवश्य थे। उनके भाव तथा विचार इन पत्र-पत्रिकाओं में अधिकांश लेखों के रूप में प्रकाशित हुआ करते थे। द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य प्रमुख रूप से उन्हीं लेखों पर आधारित है। गद्य-साहित्य की शैली का रूप-निर्धारण, विविध विषयक लोकोपयोगी साहित्य की सृष्टि, हिन्दी का प्रचार आदि महत्व-पूर्ण कार्य इन लेखों द्वारा ही हुआ है।

पाँचवाँ अध्याय

निबन्धों की शैली

रचना में चमत्कार लाने की प्रणाली को शैली कहते हैं। प्रत्येक मनुष्य में आत्मप्रकाशन और विचार-विनिमय की भावना सदैव विद्यमान रहती है। वह भाषा के सहारे विचारों, आकाङ्क्षाओं, अनुभूतियों आदि को व्यक्त कर मन को सन्तुष्ट करता है। परन्तु मानव सौन्दर्योपासक प्राणी है, वह किसी भी बात को रुक्ष तथा कुरुचिपूर्ण ढङ्ग से प्रकाशित करना उचित नहीं समझता। इसलिए वह उसे आकर्षक तथा मनोमुग्धकारी बनाने के लिए उत्तम गुणों से विभूषित कर इस भाँति सामने रखने का प्रयत्न करता है जिससे चित्र चमत्कृत तथा प्रभावित हो, उसमें क्षण भर के लिए रम सकें। शैली का उद्देश्य अभिव्यक्ति के सौन्दर्य को बढ़ाना ही होता है; लेखक के भाव, विचार, कल्पना चाहे कितनी उच्च, अपूर्व अथवा अद्भुत क्यों न हो जब तक उन्हें सुचारु ढङ्ग से यथास्थान न रखा जायगा तब तक रचना-चमत्कार का प्रभाव पाठक पर नहीं पड़ सकता है।

निबन्ध-रचना में शैली को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है, क्योंकि शैली के द्वारा ही लेखक के व्यक्तित्व का आभास मिलता है। गम्भीर मननशील लेखक की शैली गम्भीर तथा विचारों के भार से लदी रहती है, परंतु हास्यप्रिय लेखक मनोरञ्जक तथा विनोदपूर्ण शैली को ही अधिक अपनाता है। निबन्धों में लेखक, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र रहता है और उसे अपनी रुचि, मनोवृत्तियों, भावनाओं आदि के प्रकाशन के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहने से निबन्धों में उसका व्यक्तित्व, शैली के रूप में भली भाँति प्रस्फुटित होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न गद्य-शैलियों के उदाहरण निबन्धों से ही उपलब्ध होते हैं तथा निबन्धों द्वारा ही विविध प्रकार की गद्य-शैलियों का विकास होता है। अतएव निबन्ध-रचना और उसकी शैली में अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहता है, उसकी सफलता का भार बहुत कुछ उसकी शैली पर ही निर्भर रहता है।

द्विवेदी-युगीन निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि उनमें अनेक प्रकार की गद्य-शैलियाँ प्रयुक्त हुई हैं। विभिन्न शैलियों का निर्माण प्रमुखतया भाषा और भाव के आधार पर होने से इनके दो भेद किये जा सकते हैं:—१. भाषा-प्रधान शैली और २. भाव-प्रधान शैली। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रथम में भाषा के अवयव शब्द और वाक्य की योजना की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है और द्वितीय में भाव, विचार, कल्पना आदि को अधिक महत्व दिया जाता है। आलोच्य काल के निबन्धों में दोनों प्रकार की शैलियों के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

निबन्धों की भाषा-शैली

भाषा वाक्यों का समूह है और वाक्य शब्दों का। अतएव भाषा-शैली पर विचार करने से ज्ञात होता है कि शब्द-योजना और वाक्य-योजना के आधार पर उसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—शब्द-प्रधान शैली और वाक्य-प्रधान शैली। शब्द-प्रधान शैली में निबन्धों में प्रयुक्त भाषा की शब्द-योजना पर विचार किया जाता है और वाक्य-प्रधान शैली में निबन्धों की भाषा की वाक्य-योजना की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। शब्द-प्रधान शैली को शब्दों के प्रयोग के आधार पर तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है:—१. वाग्बहुल शैली, २. संक्षिप्त और ३. निर्दिष्ट शैली।

वाग्बहुल शैली में शब्दों की भरमार रहती है। रचना में चमत्कार तथा विलक्षणता लाने के लिए लेखक किसी बात को सीधे तथा सरल शब्दों में न कहकर शब्दों का जाल बिछाता चलता है। द्विवेदी-काल के निबन्धकारों ने इस शैली को अधिक नहीं अपनाया, केवल दो-एक लेखकों ने इस शैली को अपने निबन्धों में प्रश्रय दिया है। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने 'कवि और चित्रकार' निबन्ध में इसी शैली का प्रयोग किया है—

सहज-सुन्दर-मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सब का चित्त चोर सुचारु-सजीव-चित्र-रचना-चतुर-चितेरा और जब देखो तब ही अभिनव सब नव-रस-रसीली नित नव-नव-भाव-बरस रसीली, अनूप-रूप सरूप-गरबीली, सुजन-जन-मोहन-मन्त्र की कीली, गमक-जमकादि सहज-सुहाते-चमचमाते, अनेक अलङ्कार-शृङ्गार-साज-सजीली, छबीली कविता-कल्पना-कुशल कवि, इन दोनों का काम ही उस अग-जग-मोहनी, बला की सबला सुभाव-सुन्दरी अति सुकोमला-अबला की नबेली-अलबेली-अनोखी छवि को आँखों के आगे

परतच्छ सी खड़ी दरसाकर मर्मज्ञ-सुरसिक-जनों के मनों को लुभाना, तरसाना, सरसाना और रिझाना ही है।"[१]

उक्त उद्धरण को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों की भूल-भुलैया के चक्कर में फँस कर पाठक अभिव्यक्त भाव को ग्रहण करने में असमर्थ सा रहता है। संक्षिप्त शैली में इसके ठीक विपरीत, भाव-प्रकाशन में थोड़े से थोड़े शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसमें कम शब्दों में अधिक कहने की, गागर में सागर भरने की, प्रवृत्ति प्रधान रहती है। आलोच्य काल के निबन्ध-कारों में इस शैली को सबसे अधिक रामचन्द्र शुक्ल ने अपनाया। इसी से उनके वाक्य कहीं-कहीं सूत्रवत् हो गये हैं—

"श्रद्धा महत्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण। श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है।"[२]

अध्यापक पूर्णसिंह के निबन्धों में भी कहीं-कहीं सूत्रवत् वाक्यों का प्रयोग देखने को मिलता है। 'आचरण की सभ्यता'[३] में प्रयुक्त 'प्रेम की भाषा शब्द-रहित है', 'आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है', 'आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश्य है' आदि इसी प्रकार के वाक्य हैं।

शब्द-योजना के अनुसार भाषा-शैली का तीसरा रूप निर्दिष्ट शैली का होता है। इसमें न तो शब्दों की भरमार रहती है और न न्यूनता ही। विषय को बोधगम्य बनाने के लिए शब्दों का प्रयोग उचित सङ्ख्या में किया जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, चन्द्रधर गुलेरी, कृष्ण-बिहारी मिश्र आदि निबन्धकारों ने इसी शैली का प्रयोग किया है। श्याम-सुन्दर दास 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' निबन्ध में इसी शैली में लिखते हैं—

'भारतीय साहित्य की दूसरी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है, अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक

---

१ 'गोविन्द-निबन्धावली', पृ० १० ।

२ 'चिन्तामणि' में सङ्गृहीत, 'श्रद्धा-भक्ति' निबन्ध ।

३ 'सरस्वती', भाग १३, पृ० १०१ और १४१ ।

तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है।"[१]

वस्तुत: भाषा और भाव का जैसा सामञ्जस्य इस शैली में देखने को मिलता है वह अन्यत्र नहीं। इसी से द्विवेदी-युग के निबन्धकार इसी शैली को अधिक प्रयोग में लाये हैं।

वाक्य योजना के आधार पर शैली के भेद

द्विवेदी-युग के निबन्धों की भाषा-शैली को वाक्य-योजना के अनुसार चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—१—सरल शैली, २—गूढ़-गुम्फित-वाक्य शैली, ३—उक्ति-प्रधान शैली और ४—अलङ्कृत शैली। सरल शैली में छोटे-छोटे वाक्य प्रयुक्त होते हैं। इस शैली में सरल वाक्य-विन्यास के साथ-साथ प्रसाद गुण का रहना भी आवश्यक होता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी, सत्य देव, सन्तराम आदि लेखकों ने अपने निबन्धों में इसी शैली का प्रयोग किया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' में लिखते हैं—

"लक्ष्मण ने भ्रातृ-स्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया। उन्होंने राजपाट छोड़कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया, यह बहुत बड़ी बात थी। पर उर्मिला ने उससे भी बढ़ कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने अपने सांसारिक सुख के सबसे अच्छे अंश से हाथ धो डाला।"[२]

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं इस शैली का प्रयोग तो किया ही, साथ ही अन्य लेखकों को भी इसी शैली को अपनाने पर बल दिया। इस काल के वर्णनात्मक, कथात्मक आदि निबन्धों में इस शैली के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।

इस समय के निबन्धकारों ने सरल वाक्यों के प्रयोग के अतिरिक्त गूढ़-गुम्फित वाक्यों का भी प्रयोग किया है। इस शैली में बड़े-बड़े वाक्यों के प्रयोग में एक से अधिक क्रिया पदों का योग रहता है। गूढ़-गुम्फित वाक्य शैली में वही लेखक सफल होता है जिसकी वाक्य-रचना-शक्ति प्रौढ़ता को पहुँच

---

[१] 'गद्यरत्नाकर', पृ० ६४।

[२] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जुलाई १६०८।

चुकी हो। गूढ़ विवेचनात्मक निबन्धों में लेखकों ने अधिकतर इसी शैली का प्रयोग किया है। आचार्य राम चन्द्र शुक्ल 'कविता क्या है' निबन्ध में इसी शैली में लिखते हैं—

"जो केवल प्रफुल्ल-प्रसून-प्रसार के सौरभ सञ्चार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुखस्पर्श समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं, इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिम-विन्दु-मण्डित मरकताम-शाद्वल जाल, अत्यन्त विशाल गिरि शिखर से गिरते हुए जल-प्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकार नीहारिका के बीच विविध वर्ण-स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही हृदय के लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं, भावुक या सहृदय नहीं[1]"।

इस शैली में समीकृत तथा सन्तुलित वाक्यों का ही अधिक प्रयोग होता है। द्विवेदी-युग में इस शैली को अपनाने वाले लेखकों में रामचन्द्र शुक्ल के अतिरिक्त श्याम सुन्दर दास, गुलाब राय आदि उल्लेखनीय हैं।

कभी-कभी लेखक अपनी उक्ति में चमत्कार तथा अनूठापन लाने के लिए मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग करता है। ऐसी शैली को उक्तिप्रधान कहा जाता है। लोकोक्तियों तथा सूक्तियों के प्रयोग से भाषा में प्रभावोत्पादकता तथा भावोत्तेजकता भी आ जाती है। द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों ने अपनी शैली में सजीवता लाने के लिए मुहावरों तथा कहावतों का यथेष्ट प्रयोग किया है। बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, चन्द्रधर गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह आदि के निबन्धों में मुहावरों के प्रयोग से भाषा में चमत्कार आ गया है। पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों में प्रचलित मुहावरों का ही अधिक प्रयोग हुआ है जिससे उनकी रोचकता पाठक के मन को बरबस आकर्षित कर लेती है। 'बाणभट्ट' निबन्ध से एक उदाहरण लीजिए—

"गद्य का एक विशेषण भी प्रबन्ध के अनुरूप न हुआ, एक शब्द भी अनुचित हुआ, एक पद भी बेमौके बैठ गया तो सारा मजा किरकिरा हो जाता है, सुनते ही खटकने लगता है। सफेद कपड़े का एक धब्बा भी दूर से दिखायी दे जाता है। गद्य-प्रबन्ध की एक भी भूल सारे सौष्ठव पर धूल डाल देती है, बने-बनाये खेल को बिगाड़ देती है, साथ के अगले-पिछले सुन्दर शब्द-विन्यास की शान को भी बट्टा लगा देती है। गद्य की शिथिलता पर पर्दा डालने के लिए कवि के पास कोई बहाना नहीं हो सकता"[2]।

---

१ 'सरस्वती', एप्रिल १६०६।

२ श्री वाण भट्ट—'हिन्दी गद्य निर्माण', पृ० २१४।

उक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुहावरों के प्रयोग से भाषा के सौन्दर्य की अभिवृद्धि तो होती ही है साथ में उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति का भी विकास होता है। इस शैली पर उर्दू की मुहावरेदानी का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। जो लोग उर्दू भाषा से अधिक परिचित थे उनकी शैली में मुहावरों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक और सुन्दर हुआ है। इन लेखकों में बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, प्रेमचन्द आदि उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने भाषा में सौन्दर्य के लिए तथा शैली को चमत्कारपूर्ण, सजीव एवं मर्मस्पर्शी बनाने के लिए निबन्धों में अलङ्कारों का भी प्रयोग किया है। इस अलङ्कृत शैली के दो भेद किये जा सकते हैं—१. शब्दालङ्कार-युक्त और २. अर्थालङ्कार-युक्त शैली। प्रथम शैली में अनुप्रास आदि शब्दालङ्कारों की छटा देखने को मिलती है। इस युग के निबन्धकारों में पण्डित गोविन्द नारायण मिश्र ने 'कवि और चित्रकार'[1] निबन्ध में तथा जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'अनुप्रास का अन्वेषण'[2] में इसी शैली को अपनाया है। परन्तु यह शैली इस युग में अधिक नहीं अपनायी जा सकी। यदि कहीं भी अनुप्रासमयी शब्दावली देखने को मिलती है तो वह स्वभावतः ही आ गयी है, उसके लिए लेखक अधिक प्रयत्नशील नहीं दिखायी देता। रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में जहाँ उनका कवि-हृदय कुछ उमड़ सा आया है, वहाँ ऐसी शब्दावली स्वयं आ बैठी है। 'कविता क्या है' निबन्ध में इसी शैली में वे लिखते हैं :—

"सौन्दर्य का दर्शन मनुष्य मनुष्य ही में नहीं करता, प्रत्युत पल्लव-गुम्फित पुष्पहास में, पक्षियों के पक्ष-जाल में, सिन्दूराभ सान्ध्य दिगञ्चल के हिरण्य-मेखला-मण्डित घन खण्ड में, तुषारावृत्त तुङ्ग गिरि-शिखर में, चन्द्रकिरण से झलमलाते निर्झर में और न जाने कितनी वस्तुओं में वह सौन्दर्य की झलक पाता है।"[3]

इस प्रकार द्विवेदी युग के अन्य लेखकों जैसे अध्यापक पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र, जयशङ्कर प्रसाद, पद्मसिंह शर्मा आदि ने भी अपने निबन्धों में कहीं-कहीं अनुप्रासमयी शब्दावली का प्रयोग किया है।

अर्थलङ्कार-युक्त शैली में अर्थालङ्कारों का प्रयोग रहता है। इस शैली में अलङ्कारों का प्रयोग भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिए अथवा उन्हें स्पष्ट

---

[1] **'श्री गोविन्द-निबन्धावली', में सङ्गृहीत।**

[2] **'निबन्ध-निचय' में सङ्गृहीत।**

[3] **'चिन्तामणि', पृ० १६५-६६।**

और सहज ग्राह्य बनाने के लिए किया जाता है। आलोच्य काल के निबन्धकारों ने निबन्धों की भाषा में सौन्दर्य लाने के लिए रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि प्रचलित अलङ्कारों का प्रयोग यत्र-तत्र किया है। ऐसा करने में उनका प्रमुख उद्देश्य भाव को बोधगम्य अथवा उसे मूर्त रूप देने का ही अधिक रहा है। अध्यापक पूर्णसिंह ने 'सच्ची वीरता' में इसी शैली को अपनाया है—

"सच्चे वीर पुरुष धीर, गम्भीर और आजाद होते हैं, उनके मन की गम्भीरता और शान्ति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चञ्चल नहीं होते......सत्व गुण के क्षीर समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती, वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं।"[1]

इसी तरह पद्मसिंह शर्मा ने भी 'हिन्दी के प्राचीन साहित्य का उद्धार' निबन्ध में उसी शैली को ग्रहण किया है—

"साहित्य के नवीन मन्दिरों का निर्माण तो हो ही रहा है, होता ही रहेगा, होना भी चाहिए; पर साहित्य के प्राचीन प्रासादों जो जहाँ-तहाँ ध्वस्त-विध्वस्त दशा में दबे पड़े हैं का उद्धार इससे भी बड़े महत्व का काम है। उन खँडहरों में बड़े-बड़े अमूल्य रत्न और कीमती खजाने मिट्टी में मिले हैं; उन्हें भी ढूढ़ कर बाहर निकालना चाहिए।"[2]

अर्थालङ्कारों के प्रयोग के उदाहरण द्विवेदी-युग के लगभग सभी लेखकों की रचनाओं में देखने को मिलते हैं। यहाँ तक कि राम चन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दर दास जैसे गम्भीर व्यक्तियों ने भी अपने निबन्धों में अलङ्कारों को आश्रय दिया है जिससे उनकी शैली मे चार-चाँद लग गये हैं।

भाव-शैली

भाव-शैली को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है—१. रागात्मक, २. इन्द्रियानुभावात्मक तथा ३. मनोविकारात्मक। द्विवेदी-युग के निबन्धों में उन तीनों प्रकार की शैलियों को प्रयोग में लाया गया है, परन्तु रागात्मक शैली अधिक अपनायी गयी है। इस शैली में लेखक के हृदय की रागमय प्रवृत्तियों तथा अनुभूतियों की झलक मिलती है। इसमें लेखक की रमणीय भावनाएँ कल्पना की सहायता से वर्ण्य विषय के साथ उचित

---

१ 'सरस्वती', जनवरी १९०९।

२ 'गद्यरत्नाकर', पृ० ३५।

सामञ्जस्य स्थापित करती हैं। लेखक जब अपनी रचनाओं में क्षोभ, क्रोध, हास्य, व्यङ्ग्य, घृणा, प्रीति, शोक आदि भावनाओं को प्रकाशित करता है तो इसी शैली को प्रयुक्त करता है। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी की हीन दशा को देखकर अपनी भावनाओं का प्रकाशन करते हैं तो उसी शैलो को अपनाते हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा—

"भारत की एक तृतीयांश जनसङ्ख्या की जन्मभाषा होकर भी हिन्दी की इतनी हीन दशा! संयुक्त प्रान्त में दस बीस भी प्रतिभाशाली पुरुष उसके प्रेमी और पृष्ठपोषक नहीं! हिन्दी की कुछ कदर नहीं! हिन्दी लेखकों की कुछ कदर नहीं!! हिन्दी में लिखी गयी पुस्तकों की कुछ कदर नहीं!!! वङ्गीय साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार! आओ, तुम्हारे लिए मैदान खाली पड़ा है। शेक्सपियर और बाइरन, मैकाले और मार्ले के पूजक, संयुक्त प्रान्त के अँगरेजीदाँ, हाथ क्या जबान तक हिलाने वाले नहीं। उनके लिए जैसे अँगरेजी वैसे ही बँगला। तुम्हारे आगमन से उनकी कोई हानि नहीं।"[1]

इसी भाँति जब निबन्धकार हास्य अथवा विनोद को अपनी रचनाओं में प्रश्रय देता है तो रागात्मक शैली का ही प्रयोग करता है। द्विवेदी-युग में हास्यात्मक शैली के अपनानेवालों में बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनका हास्य बड़ी उच्चकोटि का तथा मार्मिक होता था। बालमुकुन्द गुप्त की हास्यप्रियता 'मेले का ऊँट' निबन्ध में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है—

"भारत-मित्र सम्पादक! जीते रहो—दूध बताशे पीते रहो। भाँग भेजी सो अच्छी थी। फिर वैसी ही भेजना। गत सप्ताह अपना चिट्ठा आपके पत्र में टटोलते हुए 'मोहन मेले' के लेख पर निगाह पड़ी; पढ़ कर आपकी दृष्टि पर अफसोस हुआ। पहली बार आपकी बुद्धि पर अफसोस हुआ था। भाई! आपकी दृष्टि गिद्ध की सी होनी चाहिए, क्योंकि आप सम्पादक हैं।"[2]

इसी हास्यात्मक शैली को द्विवेदी-युग के अनेक लेखकों ने अपनाया है। 'मनुष्य की आयु',[3] 'हमजोली की टोली',[4] 'मेरी दिल्लगी',[5] 'बाबू',[6]

---

[1] 'विचार-विमर्श', पृ० ३१।
[2] 'हिन्दी गद्य-निर्माण', पृ० १३६।
[3] सीता राम—'भारतेन्दु', अगस्त १६०५, खण्ड १, सङ्ख्या १।
[4] 'रसिक-रहस्य'—वर्ष २, अङ्क ५, १५ फरवरी १६०६।
[5] एक दिल्लगी बाज—'इन्दु', कला ४, खण्ड २, किरण ३, संवत १६७०, पृ० २३०।
[6] हरिहर नाथ, 'सरस्वती', अगस्त १६१६।

'साहबी हिन्दी'[1] आदि निबन्धों में लेखकों की विनोदप्रियता स्पष्ट झलकती है। 'मनुष्य की आयु' निबन्ध से एक उद्धरण देखिए—

"अन्त में मनुष्य बुलाया गया और ब्रह्मा जी ने उसको यह सुनाया कि तुम्हारी आयु तीस वर्ष की होना चाहिए। यह सुनकर आदमी ने जवाब दिया कि तीस वर्ष की आयु से मेरा कुछ नहीं होगा; मैं तो उस उमर तक पढ़ लिख कर मकान बनाकर के अपनी शादी कर चुका हूँगा, जो उस समय मेरी मृत्यु हो जायगी तो वंश कैसे चलेगा। देवताओं ने समझा कि बात सही कहता है। इसलिए गधे की १८ वर्ष की आयु आदमी को दी और कहा कि अब जाओ। तब उसने कहा कि मेरा काम इतने से नहीं चल सकता; क्योंकि इस जमाने तक मेरे लड़के छोटे-छोटे रहेंगे और मैं अभी तक कमाता रहूँगा; उनका इन्तिजाम नहीं कर सकूँगा। यह सुनकर ब्रह्मा ने मुँह बिगाड़ कर कुत्ते के १२ वर्ष भी दे दिये; लेकिन उनका मन तब भी न भरा और लगा कहने कि पितामह यह कोई बात है कि अपने नाती पोतों का मुँह भी न देखूँ? ताबे जिन्दगी तो मैंने कमाया और लड़कों की ब्याह शादी की, तिमारदारी की और जब वे बड़े हुए और मेरे सुख भोगने का समय आया तो आप कहते हैं कि अब चलो। यह सुन ब्रह्मा ने लाल पीले होकर बन्दर की बची हुई १० बरस की आयु भी दे दी और इन्द्र चोबदार को हुक्म दिया कि इसको लात मार कर बाहर करो। यह सुनते दी इन्द्र ने उसके कमर में ऐसी लात मारी कि वह गिड़गिड़ाता ही रहा कि औंधा होकर त्रकृशङ्कुवत् जमीन पर आ पड़ा।"[2]

इस हास्यात्मक शैली का जन्म भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बद्रीनारायण चौधरी आदि के निबन्धों में यह शैली खूब मँज चुकी थी। द्विवेदी-युग के लेखकों ने भी इस परम्परा में योग दिया और उच्चकोटि के उदाहरण प्रस्तुत किये। इस परम्परा के प्रभाव से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पण्डित चन्द्रधर गुलेरी आदि भी नहीं बचे; उन्हें अपने निबन्धों में इस शैली का प्रयोग करना पड़ा है, पर इनका हास्य उच्चकोटि का तथा मार्मिक ही अधिक होता था।

द्विवेदी-युग के निबन्धों में व्यङ्ग्यात्मक शैली भी विशेष रूप से अपनायी गयी। इस शैली का जन्म धर्म-प्रचारकों तथा समाज-सुधारकों द्वारा हिन्दी में बहुत पहले हो चुका था। भारतेन्दु-युग के निबन्धकारों ने उसे साहित्य के

---

[1] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', जनवरी, फरवरी १९०१।

[2] सीताराम—'भारतेन्दु', अगस्त सन् १९०५, पृ० १५-१६।

साँचे में ढाल कर शुद्ध रूप प्रदान किया। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने निबन्धों में विरोधियों को चुप करने तथा मुहँ-तोड़ जवाब देने के लिए इसी शैली का प्रयोग किया है। 'दण्डदेव का आत्म-निवेदन' निबन्ध में इसी शैली में वे लिखते हैं।

"फीजी, जमाइका, गायना, मारिशस आदि टापुओं में भी हम खूब फूल-फल रहे हैं, जीते रहें गन्ने की खेती करनेवाले गौरकाय विदेशी। वे हमारा अत्यधिक आदर करते हैं, कभी अपने हाथ से हमें अलग नहीं करते। उनकी बदौलत ही हम भारतीय कुलियों की पीठ, पेट, हाथ आदि अङ्गप्रत्यङ्ग छू-छूकर कृतार्थ हुआ करते हैं—अथवा कहना चाहिए कि हम नहीं, हमारे स्पर्श से वही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अण्डमन टापू के कैदियों पर भी हम बहुधा जोर-आजमाई करते हैं। इधर भारत के जेलों में भी, कुछ समय से, हमारी विशेष पूछ-ताछ होने लगी है। यहाँ तक कि एम० ए० और बी० ए० पास कैदी भी हमारे संस्पर्श से अपना परित्राण नहीं कर सकते। कितने ही असहयोगी कैदियों की अक्ल हमीं ने ठिकाने लगायी है।"[१]

द्विवेदीजी के अन्य समकालीन लेखकों ने भी इस शैली का प्रयोग किया है जिनमें गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, पद्मसिंह शर्मा, मिश्र बन्धु, कृष्णविहारी मिश्र, भगवान दीन, लक्ष्मीधर बाजपेयी आदि उल्लेखनीय हैं। 'भङ्ग की तरङ्ग' निबन्ध में इसी शैली को अपनाया गया है—

"पर हैं! तरङ्गानन्द? तुम भी कैसे मूर्ख हो, आज हिन्दी साहित्य में जहाँ इतने लेखक हैं वहाँ तुम लेखक नहीं बन सकते? इसके लिए तो बड़ा सहज उपाय है, पुस्तक पुस्तिकाओं और अखबारों की पुरानी फाइलें उठा लो, चौदह आने उसकी नक़ल कर डालो। दो आना कुछ अपना टूटा-फूटा मिला दो। हो गये धुरन्धर ले""""खक। क्या इतना भी नहीं कर सकते? देख अभी 'कलाधर दास' ने हिन्दी साहित्य में एक नयी चीज तैयार की है, उन्होंने साहित्य में नया 'सुमन' पैदा कर दिया है। नित नये प्रकाशक उनका दरवाजा खटखटाया करते हैं। पर भैया! जानते हो उसमें क्या है?"[२]

कभी-कभी निबन्धों में किसी विशेष व्यक्ति पर चुभते हुए शब्दों के साथ लट्ठमार शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता था। परोक्षमार्ग का अवलम्बन न कर सीधे-सीधे उसकी खबर ली जाती थी। भगवान दीन के 'बेताब की बेताबी', गोविन्द नारायण मिश्र का 'आत्मा राम की टेंटें' निबन्धों में इसी

---

[१] 'लेखाञ्जलि', पृ० १६९।

[२] तरङ्गानन्द—'साहित्य', आश्विन संवत् १९७६।

शैली को अपनाया गया है। लेखकों ने सीधे-सीधे व्यङ्ग्य विद्रूप बरसाने का प्रयत्न किया है। 'बेताब की वेतावी' से एक उदाहरण देखिए—

"दिल्ली-निवासी बा० नारायण प्रसाद वेताव ने पद्य-परीक्षा नाम की एक पुस्तक लिखी है। इसमें आपने हिन्दी कवियों पर बड़ी दया की है। इस परिश्रम के हेतु हम आपकी प्रशंसा करते हैं। इस अकारण दया का सच्चा कारण तो ईश्वर जाने; पर हमारी समझ में तो यह आया कि 'बेताब' भी जमाने की रफ्तार समझने में बड़े पटु हैं। हिन्दी की बढ़ती कला देख आप उर्दू का पल्ला छोड़ हिन्दी की शरण में आ गये हैं। नवयुवकों में धाक जमाने का ढङ्ग सोचा है। 'बेताब' जी का दोष नहीं, स्वार्थ-साधक समय का दोष है।"[1]

इसी तरह 'सभा की सभ्यता'[2] में भी व्यङ्ग्यात्मक शैली का अनुसरण किया गया है। 'सम्पादकों और अनुवादकों की ऊधम' में तत्कालीन सम्पादकों तथा अनुवादकों की खिल्ली उड़ायी गयी है—

"अब सम्पादकों की बात सुनिए। जिसे और कोई भी काम नहीं मिलता, जो गणित में कमजोर होने के कारण सातवें या आठवें दर्जे के आगे न घिसट सका, वही बँगला या और किसी प्रान्तीय लिपि के अक्षर मात्र पहचान कर बड़ी धूम-धाम से हिन्दी सम्पादकों की पंक्ति में बैठा बातें बघार रहा है। जिसके लेख या तुकबन्दी को दूसरे अखबारों ने छापने से इनकार कर दिया, उसने चट नया अखबार निकाल दिया और जब वह न चला तब हिन्दी वालों के सिर कृतघ्नता का टीका लगा दिया।"[3]

द्विवेदी-युग के प्रतिभावान् लेखकों द्वारा व्यङ्ग्यात्मक शैली का अद्भुत विकास हुआ। उसमें परिमार्जन के साथ साहित्यिकता का समावेश भी हुआ।

भाव-शैली का दूसरा रूप इन्द्रिानुभावात्मक शैली का होता है। द्विवेदी जी तथा अन्य लेखकों ने निबन्धों में इस शैली का भी प्रयोग किया है। इस प्रकार की शैली में लेखक ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुभूतियों के सहारे पाठक तक पहुँचाने के लिए उसे वैसा ही अङ्कित करने का प्रयत्न करता है जैसा कि लेखक ने स्वयं देखा अथवा अनुभव किया था। इस शैली में चित्र-योजना की ही प्रधानता रहती है, अतएव लेखक को कल्पना-तूलिका का

---

१ लाला भगवानदीन—'साहित्य-सम्मेलन पत्रिका', आश्विन संवत् १९७९, पृ० ७३।

२ महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती', एप्रिल १९०७।

३ बदरीनाथ भट्ट—'सरस्वती', एप्रिल १९१९।

भी सहारा लेना पड़ता है। अतएव इस शैली में बुद्धि, हृदय तथा कल्पना, तीनों तत्वों की त्रिवेणी बहती है, पर हृदय गङ्गा में अन्य दोनों तत्व अपना अस्तित्व खो सा देते हैं। 'मजदूरी और प्रेम' में विधवा के विषय में लिखते समय इसी शैली का प्रयोग किया गया है—

"गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही वह अपने दुःख पर रोती है। दिन को खाना न मिला, रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा। जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है, सुई हाथ में लिये हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आँखों की दशा उस आकाश जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी-अभी बिखर गये हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं। कुछ काल के उपरान्त 'हे राम' कह कर उसने फिर सीना शुरू कर दिया।"[1]

इसी तरह 'पावस' निबन्ध में जयनारायण मल्लिक ने इसी शैली का अनुगमन किया है। वे लिखते हैं—

"अहा! क्या ही मनोहारिणी छटा है! कहीं बादलों का ठट्ट, तो कहीं घनघोर घटा है। यह रत्नगर्भा पृथ्वी आज धान्यसम्पन्न हो एक निराला ही रङ्ग ले आयी है। धान के पौधे परस्पर एक दूसरे से गला मिला रहे हैं। चक्रवाक आपस में वार्तालाप कर अपने मन का भाव एक दूसरे से जता रहे हैं। बकावली इस काली घटा में कैसी शोभा पाती है जैसे वारिद रूपी उदधि उमड़ कर चला हो और उसमें उज्जवल फेन बहता जा रहा हो। नदी की कलोलमयी तरल-तरङ्गें नृत्य कर रही हैं। इन्द्रधनुष गगन-वाटिका में केलि-कर रहा है। आनन्द का प्रवाह विद्युत के आभूषण तथा श्वेत-पीत नीरद के परिधान धारण किये प्रकृति के राजसिंहासन पर विराजमान हो रहा है।"[2]

इस शैली से सम्बन्धित एक वर्णनात्मक शैली भी होती है। वर्णनात्मक शैली में लेखक संश्लिष्ट चित्र-योजना न कर स्थूल वर्णन को ही अधिक अपनाता है। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने इन्द्रियानुभावत्मक शैली के इस रूप को भी निबन्धों में अपनाया है। 'आगरे की शाही इमारतें' में महावीर प्रसाद द्विवेदी इसी शैली में लिखते हैं—

---

[1] 'हिन्दी-गद्य-निर्माण', पृ० १७६,७७।

[2] 'लक्ष्मी', जून-जुलाई १९२२, पृ० १२६।

"आगरे का किला त्रिभुजाकार है। वह यमुना के ठीक किनारे है। उसकी दीवार की परिधि डेढ़ मील के लगभग है। दीवार की ऊँचाई ७० फुट है। दीवार लाल पत्थर की है। उसके सब तरफ एक गहरा खन्दक है। उसके प्रधान फाटक अर्थात् देहली दरवाजे के सामने खन्दक पर एक पुल बना हुआ है। उसे इच्छानुसार लगा या हटा सकते हैं। देहली दरवाजे के दाहिनी तरफ, एक जगह पर, १६०५ ईसवी का एक लेख है।"[1]

इस भाँति आलोच्यकाल के लेखकों ने वर्णनात्मक तथा भावात्मक निबन्धों में इन्द्रियानुभावात्मक शैली के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस शैली में लिखने पर उन्होंने उन्हीं वस्तुओं का वर्णन विशेष रूप से किया जिसका अनुभव मनुष्य की इन्द्रियाँ सरलता से करती हैं।

इस युग के निबन्धकारों ने भावशैली के तीसरे रूप को भी अपनाया है; इसे मनोविकारात्मक शैली कहा जा सकता है। इसमें न तो रागात्मक शैली की भाँति, लेखक हृदय में स्थित भावों के ही व्यक्त करने में अपनी समस्त शक्ति को लगाता है और न इन्द्रियानुभावात्मक शैली की भाँति कल्पना के सहारे अपनी अनुभूति का ही प्रकाशन करता है। इस शैली में लेखक के मस्तिष्क से उसकी अनुभूति तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करती है। विचारात्मक निबन्धों में इसी शैली को अपनाया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास आदि के विचारात्मक निबन्धों में यह शैली अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गयी है। 'लोभ और प्रीति' निबन्ध में शुक्ल जी इसी शैली में लिखते हैं—

"लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनन्द का अनुभव होना। अतः वह आनन्द-स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देख कर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनन्द मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया।"[2]

द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने उक्त शैलियों के अतिरिक्त अनेक गद्य-शैलियों का प्रयोग किया है; इनमें से संलापात्मक, वक्तृतात्मक तथा उपदेशात्मक शैलियाँ उल्लेखनीय हैं। संलापात्मक शैली का विकास बात-

---

१ 'लेखाञ्जलि', पृ० ८९।

२ 'चिन्तामणि', पृ० ७०।

चीत करने की कला के आधार पर हुआ है। इसमें लेखक अपने पाठक के अत्यधिक निकट आकर आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर घरेलू ढङ्ग से अपने मन्तव्य को प्रकाशित करता है। चन्द्रधरगुलेरी के निबन्धों में बातचीत की सभी विशेषताएँ सरलतापूर्वक देखी जा सकती हैं। 'संगीत' निबन्ध के एक उद्धरण में देखिए--

"मुझे इतना समय नहीं रह गया है कि आपके सामने ऐसी कहावतें रक्खूँ कि रोना और गाना सबको आता है, न मेरी यह रुचि है कि सङ्गीत न जानने वालों को द्विपद, मृग और पुच्छ, विषाण हीन बताने वाले श्लोक उद्धृत करूँ और इसके लिए भी समय अनुकूल नहीं है कि ऐसे वाक्यों के प्रमाण दूँ जिनमें कहा गया है कि शिशु, पशु और सर्प ही गीत का रस जानते हैं या साक्षात् शङ्कर ही जानते हैं।"[1]

शिवपूजन सहाय के 'हिन्दी कवियों की अनोखी सूझ' निबन्ध में भी पाठकों को सम्बोधित कर बातचीत करने के ढङ्ग पर ही लेखक अपने उद्देश्य को समझाने का प्रयत्न करता है—

"पाठक! दोहों के विषय में यहाँ जो कुछ भी एक-आध पंक्तियाँ लिखी जा चुकी है सो केवल सङ्केत मात्र ही समझिए, दोहार्थ से सम्बन्ध नहीं, हाँ, उस तरफ का इशारा है। कवियों की कविताओं का नमूना अगर एक-एक पद देकर भी दिखाता जाऊँगा तो यह दीर्घकाय लेख कुछ भद्दा हो जायगा। मेरा उद्देश्य यह है कि आप लोगों में ब्रजभाषा की उत्तम कविताएँ पढ़ने का शौक पैदा हो। मैं चाशनी चखाता हूँ, आप लोगों को तृप्त नहीं कर सकता। किन्तु याद रखिए—चाहै रस चाखा तो पठन कर भाखा, जो न जाने ब्रजभाखा ताहि साखामृग जानिए।"[2]

वक्तृतात्मक शैली के भी अनेक उदाहरण इस युग के निबन्धों में देखे जा सकते हैं। इस शैली का विकास वक्तृत्व कला के आधार पर हुआ है। इसकी विशेषता यह है कि लेखक रङ्गमञ्च पर खड़े होकर व्याख्यान देने वालों की भाँति ओजपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक भाषा में अपना मन्तव्य प्रकाशित करता है। इस शैली में प्रतिकूल जन-मनोवृति को स्वानुकूल बनाने के लिए उसकी रुचि के अनुसार बात कह कर, अनेक प्रमाणों द्वारा उनको

---

[1] चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, 'मर्यादा', मार्च १९११, पृ० २०५।

[2] शिवपूजन सहाय- 'लक्ष्मी', अक्टूबर, १९१९, पृ० ३११।

प्रभावित कर लेखक उसे अपने मतानुकूल बना लेता है। 'सच्ची वीरता' में अध्यापक पूर्ण सिंह इसी शैली में लिखते हैं :—

"दुनिया में जङ्ग के सब सामान जमा हैं, लाखों आदमी मरने मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूदों की तरह मूसलधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—'हाल्ट'! (ठहरो!), तमाम फौज निस्तब्ध होकर रुकने की हालत में खड़ी हो गयी। आल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्यों ही असम्भव समझा त्यों ही वीर ने कहा—'आल्प्स है ही नहीं'। फौज को निश्चय होगया कि आल्प्स नहीं हैं और सब पार हो गये।"[1]

उक्त उद्धरण में लेखक ने नाटकीय ढङ्ग से पाठकों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है, रचना में ओज तथा प्रभावित करने वाली शक्ति की इसमें स्पष्ट झलक मिलती है। वक्तृतात्मक शैली वहाँ अधिक निखर आती है जहाँ पर लेखक उपदेश देने की ओर उन्मुख हो जाता है। एक उदाहरण से यह कथा स्पष्ट हो जायगा—

"हिन्दू भाइयों को यह समय मतमतान्तर के झगड़ों में पड़ने का नहीं है और न सन्तोष का है और न वेदान्ती बनकर उदासीन होकर बैठने का है। भाइयो! ऐसे घोर काल में कुछ धार्मिक कार्य नहीं हो सकता, न वह शास्त्र विहित ही है। केवल देश बचाने के लिए जिस तरह बन पड़े, कटिबद्ध होकर यत्न करो। यह समय देश-विदेश व जाँति-पाँति के विचार का नहीं है। सब का प्रायश्चित केवल मरते हुए देशभाइयों के बचाना ही है"[2]

द्विवेदी-युग में इस शैली को सत्यदेव, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा आदि लेखकों ने विशेष रूप से अपनाया। इन विद्वानों द्वारा इस शैलो का परिमार्जन तथा परिष्कार भी हुआ। इनके निबन्धों में इस शैली के अपनाने से अद्भुत प्रभावात्मकता आ गयी है।

निबन्धों में कभी-कभी लेखकों ने उपदेशात्मक शैली को भी अपनाया है। इस शैली का सूत्रपात धर्म-प्रचारकों तथा समाज-सुधारकों द्वारा हो चुका था। द्विवेदी-युग के लेखकों ने परोक्ष रूप से उपदेश न देकर जहाँ सीधे-सीधे पाठकों को ढङ्ग से समझाने का प्रयत्न किया है वहाँ इसी शैली का प्रयोग

---

१ 'सच्ची वीरता'—अध्यापक पूर्णसिंह।

२ 'भारतवर्ष की शोचनीय दशा'—मनोरथ पाण्डेय, 'इन्दु,' संवत् १९७०, कला ४, खण्ड २, किरण ६, पृ० ५४०।

किया है। संलापात्मक शैली में लेखक, पाठक को समान स्तर का समझता है। वहाँ उपदेशक पाठक के हितार्थ अपने अनुभूत ज्ञान के सहारे उचित मार्ग का निर्देशन करता है। इस युग के लगभग सभी लेखकों में उपदेश देने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है; क्योंकि निबंधों के द्वारा पाठक के ज्ञान-विस्तार तथा चरित्र-निर्माण करने का ही उनका प्रमुख उद्देश्य रहता था। पण्डित कृष्णविहारी मिश्र 'चित्तवृत्ति' निबन्ध में इसी शैली में लिखते हैं—

"जो पुरुष उच्चकोटि के जीवन को प्राप्त करना चाहता है उसे चाहिए कि प्रत्येक वस्तु के तारतम्य तथा जीवन के अर्थ को समझने, अपने चित्त से बुरे विचार को निकाल देने और भलाई करने में अविराम लगा रहे। यदि उसे कुछ कष्ट या भ्रम है तो उसे चाहिए कि उनके कारणों को अपने आप में ढूँढ़ निकाले और दूर करे। उसको चाहिए कि अपने चित्त को ऐसा बना ले कि प्रत्येक कार्य में बुराई की अपेक्षा भलाई ही उससे अधिक हुआ करे, ऐसा करने से वह दृढ़, गम्भीर और बुद्धिमान होता जायगा और उसके हृदय में सद्-विचारों का ऐसा प्रकाश फैलेगा कि ईश्वर-प्राप्ति का पथ साफ दिखलायी देगा।"[1]

वक्तृतात्मक शैली में जहाँ ओज तथा प्रभावोत्पादन की प्रधानता रहती है वहाँ उपदेशात्मक शैली में सीधे तथा सरल शब्दों में पाठक के हित की बात उपदेशक की भाँति समझायी जाती हैं। आलोच्यकाल में उपदेशात्मक शैली के प्रयोग करनेवालों में माधव प्रसाद मिश्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गङ्गा प्रसाद अग्निहोत्री, सन्तराम आदि उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग के निबन्धों में भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न गद्य-शैलियों का प्रयोग देखने को मिलता है। इन शैलियों का प्रतिभावान लेखकों द्वारा परिमार्जन तथा विकास भी हुआ। इस युग के निबन्धों में यदि एक ओर कहानी, नाटक, कविता आदि के गुण मिलते हैं तो दूसरी ओर बात-चीत, भाषण, उपदेश आदि की विशेषताएँ भी देखने को मिलती हैं, जिससे विभिन्न गद्यशैलियों का निर्माण तथा विकास हुआ। निबन्धों में व्यक्तिगत शैलियों के प्रयोग के साथ-साथ उसकी जातीय शैली भी विकसित हुई। इस युग के निबंधों की शैली का यही महत्व है।

---

[1] पण्डित कृष्णविहारी मिश्र—'लक्ष्मी', दिसम्बर १९०९, पृ० ३७१।

छठा अध्याय

निबन्धों की भाषा

भाषा विचारधारा की बाह्य प्रतिनिधि है। वह मनुष्य के हृदगत भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने वाले उन प्रतीकों का समुदाय है जिनके द्वारा प्रयोक्ता के अभिष्ट अर्थ को, पाठक अथवा श्रोता समुचित रूप से ग्रहण करता है। साहित्य के क्षेत्र में भी भाषा का अर्थ भावप्रकाशन का माध्यम मात्र ही लिया जाता है, भाव-जगत की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त साहित्य में प्रयुक्त भाषा का कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता। साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत से होता है और उसकी विशेषता है सत्यं, शिवं और सुन्दरं होना। भाषा, साहित्य के इस लक्ष्य की पूर्ति में विशेष रूप से सहायक होती है। मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करने तथा उसकी कल्पना-शक्ति को विकसित कर अलौकिक आनन्द प्रदान करने में वह साहित्य को अमोघ शक्ति प्रदान करती है। इस भाँति भाषा, साहित्य का अभिन्न अङ्ग बन जाती है। जिस प्रकार चित्र के लिए रेखाएँ और मूर्ति के लिए प्रस्तर की काट-छाँट अनिवार्य है उसी प्रकार साहित्यिक भाषा में भी उपयुक्त शब्दों का चयन कर उन्हें उचित स्थान पर जड़ना आवश्यक होता है। भाषा जब व्याकरण के नियमों का पालन करती हुई भाव के साथ सामञ्जस्य स्थापित करती है तभी वह साहित्यिक भाषा की संज्ञा से विभूषित होती है।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही खड़ी बोली साहित्यिक गद्य में अपना अधिकार जमा चुकी थी; परन्तु उसमें अर्थव्यञ्जक शब्दों का बहुत अभाव था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्य की भाषा को एक निश्चित रूप अवश्य प्रदान किया, परन्तु उसकी साहित्यिक व्यवस्था की ओर वे अधिक ध्यान नहीं दे सके। भारतेन्दु-मण्डल मनोरञ्जक साहित्य-निर्माण द्वारा हिन्दी गद्य साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने में अधिकतर लगा रहा।[1] उनके इस कार्य

---

[1] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४८८।

से भाषा की अभिव्यञ्जन शक्ति का विकास अवश्य हुआ, परन्तु भाषा को स्थिर रूप प्रदान करने की ओर अधिक ध्यान वे न दे सके। भारतेन्दुजी तद्भव हिन्दी का प्रयोग करने के लिए जोर देते रहे और भाषा को व्यावहारिक स्वरूप देने के प्रयत्न में लगे रहे। परन्तु उनके समकालीन लेखकों ने प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग अधिकता से किया और व्याकरण के नियमों के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया जिससे भाषा अव्यवस्थित सी हो गयी। इसके अतिरिक्त इन लेखकों का विषय और उपादान, शब्द-भण्डार और दृष्टिकोण सभी कुछ बहुत सङ्कुचित था।[१] इस युग में हिन्दी-प्रचार के लिए जो कार्य हुआ वह अवश्य ही प्रशंसनीय है; क्योंकि उससे हिन्दी बाहरवाले प्रान्तों के लेखकों के सम्पर्क में आयी जिससे उसके शब्द-भण्डार की वृद्धि होने में सहायता अवश्य मिली।

भारतेन्दु-युग के अन्तिम काल में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कुछ नवीन शक्तियों का प्रादुर्भाव होने से हिन्दी भाषा को प्रोत्साहन मिलने के साथ साथ उसके स्वरूप का परिमार्जन तथा परिष्कार हुआ। इन नवीन शक्तियों में काशी-नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना तथा 'सरस्वती' का सम्पादन द्विवेदी जी के हाथ में आना विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन शक्तियों के उद्योग से हिन्दी में नवीन विषयों का प्रवेश हुआ। भारतेन्दु युगीन निबन्धों में जहाँ केवल राजनीति तथा समाज-सुधार की भावना ही प्रधान रूप से निहित रहती थी, वहाँ द्विवेदी-युग में उपयोगिता के साथ पाठक को विविध विषयों के परिचय द्वारा उसका ज्ञान-विस्तार तथा रुचि-परिष्कार करने की भावना प्रबल हो उठी थी। अतएव अब ऐतिहासिक, पुरातत्व विषयक, भौगोलिक, वैज्ञानिक तथा साहित्यिक निबन्धों की रचना की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। ऐसे समय में उन्हें हिन्दी में शब्दों का अभाव बहुत ही खटका।

हिन्दी भाषा का पोषण संस्कृत से हुआ है, अतएव संस्कृत भाषा के अगाध शब्द-भण्डार की ओर हिन्दी वालों का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। लेखकों ने संस्कृत शब्दों से हिन्दी के कलेवर की श्रीवृद्धि करने का प्रयत्न किया। पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र ने तत्सम शब्द-प्रधान भाषा का उत्कृष्ट उदाहरण 'कवि और चित्रकार' में उपस्थित किया। इस निबन्ध की रचना हिन्दी भाषा का गौरव बढ़ाने के अभिप्राय से हुई प्रतीत होती है। उन्होंने संस्कृत की 'कादम्बरी' की कोटि की रचना हिन्दी में उपस्थित करने

---

[१] देखिए 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', श्री कृष्णलाल, पृ० १४६।

के उद्देश्य से ही इस निबन्ध की रचना की। एक उदाहरण से यह कथन स्पष्ट हो जायगा—

"परन्तु चतुर सुजान विज्ञ विचारवानों के अपक्षपाती सदा अडिग न्याय के ही साथी सूक्ष्म विचार धर्म की अनमोल तुला पर धर कर तोल देखने पर नयन-मन मोहिनी विविध-रङ्ग-सोहिनी-आभा छन छन छिटकाते अपनी अनोखी माया से जग भरमाते चित्र-विचित्र वर्ण-विन्यास-चतुरवर इतर-सकल-कला-कुशलवर चित्रकार का आसन भी सरस-रस-भाव-पूर नूपुर-धुन गुन-गुनाते मञ्जुलतर पद-विन्यास लास-विलास-विलासिनी सहज लीलावती-कविता कल-कलन चतुर यशस्वी शिरोमनि अवनि तल पर समतल थल-अचल जलधि रत्नाकर अपार परिपूर छाये।"[1]

गोविनारायण मिश्र के अतिरिक्त द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों ने अधिकतर ऐसी भाषा को अपने निबन्धों में प्रश्रय नहीं दिया, यह एक प्रकार से अच्छा ही किया। भाषा के इस रूप में आडम्बर तथा प्रयत्न की मात्रा ही अधिक रहती है, उसकी सुबोधता, सरलता, व्यावहारिकता तथा स्वाभाविकता, जो साहित्यिक भाषा की विशिष्ट विशेषताएँ हैं, नष्ट हो जाती हैं।

गूढ़ तथा गम्भीर विषयों पर रचना करते समय निबन्धों की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग कुछ अधिक मात्रा में स्वभावत: हो ही जाता है। आचार्य द्विवेदी यद्यपि साहित्य में प्रयोग की जाने वाली भाषा और बोलचाल की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते थे[2] और उसके प्रतिपादन में उन्होंने अपने निबन्धों को व्यावहारिक तथा चलता रूप देने का प्रयत्न भी किया है, परन्तु इसका अपवाद स्वयं उनकी रचनाओं में मिल जाता है। गम्भीर विषयों पर लेखनी चलाते समय उनकी भाषा भी गम्भीर हो गयी है और वह संस्कृत के तत्सम शब्द-सुमनों से लदी हुई अपने सौन्दर्य को विकीर्ण करती चलती है—

---

[1] 'गोविन्द-निबन्धावली', पृ० १।

[2] 'कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई समझ ले और अर्थ को हृदयङ्गम कर सकें' —'कवि-कर्तव्य'-रसज्ञ-रञ्जन', पृ० ४, 'लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए; उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं—'विचार-विमर्श', पृ० ४६।

"ज्ञान राशि के सञ्चित कोष ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखने वाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी सम्पन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य पर ही अवलम्बित रहती है। जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक सङ्गठन का, उसके ऐतिहासिक घटना-चक्रों और राजनैतिक स्थितियों का प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ साहित्य ही में मिल सकता है।"[1]

इसी भाँति रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, कृष्णविहारी मिश्र, गुलाबराय आदि ने भी गम्भीर विषयों पर लेखनी चलाते समय तत्सता-प्रधान शब्दावली का ही अधिक प्रयोग किया है। शुक्लजी ने साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा के सम्बन्ध में विचार करते समय उर्दू के शब्दों का आवश्यकता से अधिक प्रयोग होना उचित नहीं समझा और संस्कृत के शब्दों को ही अपनाने के पक्ष में उन्होंने अपनी सम्मति प्रकट की।[2] उन्होंने निबन्धों में तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। भावपूर्ण स्थलों पर लेखनी चलाते समय उनकी भाषा तत्समता से अधिक युक्त हो जाती है। 'कविता क्या है' निबन्ध में वे लिखते हैं—

"पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का, वात विलोड़ित जल-प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्ण-घन-मण्डित, रश्मि-रञ्जित सान्ध्य दिगञ्चल में चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य का, ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अन्धड़ के प्रचण्ड झोंकों में उग्रता और उच्छृङ्खलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है।"[3]

श्याम सुन्दर दास ने भी अपने निबन्धों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का ही अधिक प्रयोग किया है। वे साहित्यिक भाषा और बोलचाल की भाषा में काफी अन्तर मानते हैं[4]। एक उदाहरण देखिए—

"सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकाल

---

[1] 'साहित्य की महत्ता'—कानपुर साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष के भाषण से।
[2] 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४३९-४० ।
[3] 'चिन्तामणि' में सङ्गृहीत, पृ० १५४-५५ ।
[4] 'हिन्दी गद्य- मीमांसा'-रमाकान्त त्रिपाठी, पृ० ३६८ ।

कर समाज को सौंपता है उसके सञ्चित भण्डार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया, प्रतिबिम्ब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा"।[1]

जयशङ्कर प्रसाद अपनी रचनाओं में संस्कृत शब्दावली के प्रयोग के लिए हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध हैं। अतएव उनकी भाषा का एक उदाहरण दिये बिना यह प्रसङ्ग अधूरा ही रह जायगा। उनके निबन्धों से भी उनकी तत्समता-प्रियता स्पष्ट झलकती है—

"जो कविता भावपूर्ण होती है, वह बड़ी ही हृदयग्राहिणी होती है। चित्र की जो वृत्तियाँ मानव हृदय में उदय हुआ करती हैं भाव कहलाती हैं। यद्यपि प्राचीन साहित्य में इनको रस के अन्तर्गत 'सञ्चारी' तथा 'स्थायी' के नाम से स्थान मिलता है, पर वे भाव इतने ही में पूरे नहीं हो सकते, वे उसके केवल स्थूल तथा प्रधान भेद हैं।"[2]

तत्सम शब्दों के अतिरिक्त तद्भव शब्दों का भी प्रयोग इस युग के निबन्धों में देखने को मिलता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा तथा जनसाधारण में प्रचलित भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं समझते। उन्होंने बोलचाल की भाषा के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रकाशित किये हैं उनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है :—

"बोल चाल से मतलब उस भाषा से है जिसे खास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान, दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का ख्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा सर्वसम्मत है वही प्रयोग करना चाहिए। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए।"[3]

द्विवेदी जी यद्यपि आम फहम भाषा के पक्ष में थे परन्तु उर्दू-फारसी के अत्यधिक शब्दों के प्रयोग को वे उचित नहीं समझते थे।[4] उनके निबन्धों की भाषा में प्रचलित शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है—

---

१ 'समाज और साहित्य', 'हिन्दी गद्य मीमांसा' में सङ्गृहीत, पृ० ३७१।
२ 'कवि और कविता'-जयशङ्करप्रसाद, 'इन्दु', कला२, किरण१, सं०१९६७, पृ०२०।
३ 'कवि और कविता'-महावीरप्रसादद्विवेदी, 'रसज्ञरञ्जन' में सङ्गृहीत, पृ० ८४।
४ 'उर्दू और आज़ाद', महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'सरस्वती', अप्रैल १९०६, पृ० १२४।

"पादरी सिंह को कभी-कभी मिदनापुर के देहात में जाना पड़ता है। एक बार दौरा करते समय उनसे कुछ देहातियों ने कहा कि वहाँ कुछ दूर पर ऐसी जगह है जहाँ भूत-प्रेत रहते हैं। इस कारण वे लोग उस तरफ जाने की हिम्मत नहीं करते। उन्होंने यह भी कहा कि दीमक या चीटों की एक बाँबी के पास एक बड़ा सा बिल है। उसी में भूतों को घुसते प्रत्यक्ष देखा गया है। इस पर सिंह महाशय ने कहा कि जरा वह जगह हमें भी दिखाओ। यह बात उन लोगों ने मान ली और अपने साथ ले जाकर उन्होंने वह बिल सिंह महाशय को दिखा दिया।"[1]

तद्भव-प्रधान तथा बोल-चाल की भाषा में अपनी रोचकता तथा सजीवता होती है जो उक्त उद्धरण में स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इस भाषा में मुहावरों का जितना सुन्दर प्रयोग हो सकता है, उतना तत्सम-प्रधान भाषा में नहीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्रधर गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा आदि के निबन्धों में मुहावरों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। बालमुकुन्द गुप्त की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

"नारंगी के रस में जाफरानी बसन्ती बूटी छान कर शिव शम्भु शर्मा खटिया पर पड़े मौजों का आनन्द ले रहे थे। खयाली घोड़े की बागें ढीली कर दी थीं। वह मनमानी जकन्दें भर रहा था।"[2]

अध्यापक पूर्ण सिंह ने भी अपने निबन्धों में कहीं-कहीं प्रचलित मुहावरों का प्रयोग बड़े सुन्दर ढङ्ग से किया है।

"हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोंक कर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना पहले दरजे की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा सी चीज है और वह सिर्फ एक बार के लिए काफी है; मानों इस बन्दूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष उसको बड़ा ही कीमती और कभी न हटने वाला हथियार समझते हैं।"[3]

इस उद्धरण में बोल चाल की भाषा के शब्दों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। उर्दू-फारसी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है जो सर्व साधारण में प्रचलित हैं।

---

[1] 'भेड़िया की माँद में पली हुई लड़कियाँ'—महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'लेखाञ्जलि' में सङ्गृहीत, पृ० २४१।

[2] 'एक दुराशा'—बालमुकुन्द गुप्त-'हिन्दी-गद्य-मीमांसा' में सङ्कलित, पृ० ३०६।

[3] 'सच्ची वीरता'—अध्यापक पूर्ण सिंह।

हिन्दी और उर्दू के विरोध ने हिंदी लेखकों को उर्दू-फारसी के शब्दों का वहिष्कार करने के लिए विवश कर दिया था[१], परन्तु तब भी कुछ विद्वान उर्दू-फारसी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग उचित समझते थे[२]। द्विवेदी जी ने भी कहा कि शब्द चाहे जिस भाषा के हों यदि वे सब की समझ में आने योग्य हैं, तो उनका प्रयोग होना ही चाहिए।[3] इसी कारण से निबन्धों में कभी-कभी उर्दू-फारसी के शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में भी हो जाया करता था। पद्मसिंह शर्मा के 'दिव्य प्रेमी मंसूर' निबन्ध में ऐसे शब्दों का प्रयोग खूब हुआ है—

"कैदखाने में इन्होंने बहुत सी करामातें दिखलायीं। आखिरी करामात यह थी कि कैदखाने में जितने ही कैदी थे, आपने सबको आज़ाद कर दिया, कैदखाने की ओर उँगली से इशारा किया, दीवार फट गयी, सब कैदी बाहर चले गये।"[४]

संस्कृत तथा उर्दू-फारसी के शब्दों के अतिरिक्त अँगरेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी निबन्धों में किया गया। इन विदेशी शब्दों को मूल रूप में लिखा जाय अथवा उनका रूप इस भाँति बदल दिया जाय कि वे अपनी भाषा की स्थायी निधि हो जायँ, यह एक समस्या बन गयी थी। द्विवेदी जी उन शब्दों को मूलरूप में लिखने के विरोध में थे[५]। श्यामसुन्दर दास ने भी यही उचित समझा कि विदेशी शब्दों का जब हम अपनी भाषा में प्रयोग करें तो उन्हें इस भाँति ग्रहण करें कि उनका विदेशीपन निकल जाय।[६]

---

१ देखिए 'भविष्य में हिन्दी का रूप क्या हो'—मुकुटधर पाण्डेय, 'सरस्वती', जनवरी १९१९।

२ देखिए 'हिन्दी की आधुनिक अवस्था'—कामताप्रसाद गुरु, 'सरस्वती', १९१८।

३ 'हिन्दी में फारसी-अरबी के अनावश्यक शब्द', 'विचार-विमर्श', पृ० ३३।

४ पद्म-पराग, पृ० १७८।

५ 'हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के आ गये हैं। वे यदि बोल चाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है'—'कवि और कविता, 'रसज्ञ-रञ्जन', पृ० ४८।

६ 'जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों—'साहित्यालोचन', पृ० ३२२।

द्विवेदी-युग में विज्ञान से सम्बन्धित अनेक नवीन विषयों पर निबन्धों की रचना हुई जिनकी चर्चा अभी तक हिन्दी साहित्य में नहीं हुई थी। इन विषयों पर लेखनी चलाते समय अँगरेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी लेखकों को करना पड़ा। इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर वहीं पर हुआ है जहाँ हिन्दी में उनके पर्यायवाची शब्दों का अभाव था अथवा वे अप्रचलित थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'चित्रों द्वारा शिक्षा' निबन्ध में अँगरेजी शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग किया है—

"जो दो सीनिमा-मशीनें चित्र-शिक्षा के काम आती हैं उनमें से 'पाथे' की मैशीन दूसरी मैशीन से अच्छी है। उसका पूरा नाम अँगरेजी में है—'पाथेज़ सेल्फ कराटेराड सिनेमा ग्रूप।' उसकी कीमत दो हजार रुपया है। उसके एंजिन में पेट्रोल जलाया जाता है। एंजिन की शक्ति दो से तीन घोड़े तक की है। यह मैशीन एक गाड़ी पर रक्खी रहती है, जिसे पक्की सड़क पर आदमी आसानी से खींच सकते हैं।"[1]

हिन्दी भाषा में अधिकतर अँगरेजी के उन्हीं शब्दों का प्रयोग हुआ है जो जन-साधारण में प्रचलित थे। द्विवेदी जी यदि एक ओर संस्कृत के अत्यधिक शब्दों का प्रयोग उचित नहीं समझते थे तो अँगरेजी के शब्दों की अनावश्यक भरमार भी नहीं चाहते थे।[2] बदरीनाथ भट्ट ने भी 'आजकल की हिन्दी कविता पर कुछ निवेदन' निबन्ध में अँगरेजी के प्रचलित शब्दों का प्रयोग स्वच्छन्दतापूर्वक किया है—

"वह दिन देश के लिए धन्य होगा जब कम्पाज़िटर प्रेस का मैटर कम्पोज़ करते-करते इतने उन्नत हो जायँगे कि स्वयं काव्य-रचना (compose) करने लगेंगे क्योंकि स्वयं काव्य-रचना के लिए किसी विशेष शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, हृदय की आवश्यकता है।"[3]

इसी तरह जनार्दन भट्ट 'जातियों का सङ्घर्षण' निबन्ध में लिखते हैं—

"वास्तव में जिन्दा वही रहता है जो बुद्धि में, विद्या में बढ़ा चढ़ा होता है। इसी प्राकृतिक नियम को लोग Survival of the fittest and

---

[1] 'लेखाञ्जलि', पृ० ९७-९८।

[2] 'हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो तो ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे केवल हिन्दी जाननेवाले भी सहज ही समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेजी से लदी हुई भाषा से पाण्डित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान और आनन्ददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता'-'विचार विमर्श', पृ० ७९।

[3] 'सरस्वती', सितम्बर १९१६, पृ० १६७।

struggle for life अर्थात् जीवन-सङ्ग्रम जिन्दगी के लिए कशमकश या सङ्घर्षण इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।"[1]

लेखक को उपयुक्त शब्द न मिल सकने से ही एक अँगरेजी शब्द Struggle के लिए हिन्दी के तीन पर्यायवाची शब्द, सङ्ग्रम, कशमकश, तथा सङ्घर्षण रखने पड़े हैं। अधिकतर विद्वानों ने अँगरेजी शब्दों का प्रयोग हिन्दी में उनका उपयुक्त पर्यायवाची शब्द न मिलने के कारण ही किया है।

निबन्धों द्वारा प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी हिन्दी में आये हैं। इनमें से मराठी भाषा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। द्विवेदी-युग के आरम्भिक काल में ही नागपुर निवासी गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने पण्डित विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूणकर के निबन्धों का अनुवाद हिन्दी में 'निबन्ध-मालादर्श' के नाम से प्रस्तुत किया था। द्विवेदी जी स्वयं मराठी भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे। अतएव उनकी रचनाओं में मराठी शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र देखने को मिलता है। मराठी के अतिरिक्त बँगला भाषा के शब्दों का प्रयोग भी कुछ निबन्धों में कहीं-कहीं देखने को मिलता है। बँगला भाषा के शब्दों का प्रयोग बँगला से अनूदित कथा-साहित्य में यथेष्ट सङ्ख्या में मिलता है। निबन्धों में बँगला के शब्द अधिकतर अनूदित कथा-साहित्य के द्वारा ही आये हैं।

निबन्धों में यद्यपि विभिन्न भाषाओं को अपनाया गया, परन्तु भाषा की आत्मा को सदैव शुद्ध रखने का प्रयत्न किया गया। अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग आवश्यकता प्रतीत होने पर ही किया गया और इस तरह भाषा के स्वरूप की रक्षा करने में लेखक सर्वत्र दत्तचित रहे। उनके इस कार्य से हिन्दी के शब्द-भण्डार की पूर्ति के साथ उसकी पाचन-शक्ति भी विकसित हुई। नवीन शब्दों के गढ़ने में उन्होंने संस्कृत का ही अत्यधिक सहारा लिया और इस तरह से साहित्य और संस्कृति के सम्बन्ध को भाषा द्वारा और भी सुदृढ़ बना दिया गया।

भाषा को सुसम्पन्न बनाने के अतिरिक्त द्विवेदी-युगीन साहित्यकारों ने उसे व्याकरण-सम्मत बनाने के लिए भी अत्यधिक प्रयत्न किया। भारतेन्दु-युग उत्साह का युग था, उसमें भाषा को यद्यपि व्यावहारिक तथा समृद्ध बनाने का कार्य आरम्भ हो गया था, पर उसके संयत रूप की ओर लेखकों का ध्यान अधिक न जा सका, क्योंकि उनके पास शान्तचित्त होकर सोचने विचारने का अधिक समय न था। परिणामस्वरूप उनके निबन्धों की भाषा में

---

[1] 'सरस्वती', अगस्त १९१६, पृ० ११७।

यत्र-तत्र वाक्य-विन्यास शिथिल हो गया है जिससे भाव-अस्पष्टता भी आ गयी है। वे 'इच्छा किया', 'आशा किया' आदि प्रयोग भी कर जाते थे। भाषा की प्रकृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि वह व्याकरण के नियमों का भी पालन करती चले। इस कार्य की ओर सर्वप्रथम ध्यान पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी का गया। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने अनेक पुस्तकों में भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ दिखला कर लेखकों को सावधान कर दिया और इस तरह वह अनायास ही भाषा-सुधारक बन गये। द्विवेदी जी ने यदि एक हाथ से लेखकों की भाषा की शिथिलता तथा अशुद्धता की तीव्र आलोचना की तो दूसरे हाथ से व्याकरण-सम्मत तथा संयत भाषा का उदाहरण भी निबन्धों द्वारा सामने रखा। उन्होंने शब्दों के शुद्ध प्रयोग के साथ व्याकरणिक चिन्हों के ठीक प्रयोग पर भी अधिक बल दिया। इस कार्य में उन्होंने अँगरेजी भाषा के आदर्श को ही सामने रखा।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जिस समय 'सरस्वती' के सम्पादन का भार अपने ऊपर लिया उस समय भाषा की बड़ी ही दयनीय अवस्था हो रही थी। उमङ्ग से भरे हुए लेखक यह भूल गये कि हिंदी भी सीखने की वस्तु है और उसका अपना व्याकरण भी है। उन्होंने यह स्वप्न में भी न सोचा कि पुनुरुक्ति, लिङ्ग, कारक, वचन, विभक्ति, लिपि आदि से सन्बन्धित अशुद्धियाँ भी हिन्दी में हो सकती हैं तथा लिखते समय भाषा में वाक्यों के अन्वय, अधिकार और क्रम का ध्यान रखना भी आवश्यक होता है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ जहाँ-तहाँ देखने को मिलती हैं। पण्डित द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी 'वर्षा ऋतु' में लिखते हैं—

"जब ऐसे दुर्दान्त दिनकर राज के असङ्ख्य असहनीय कार्यों को न सहकर असहाय प्रजा ने भक्त-वत्सल दीनोंद्धारक दीनबन्धु जगच्छरण्य उस बड़े राजा परमेश्वर की शरण **लिया** और दुर्दान्त दुर्ग्रह ग्राह पीड़ित गज की **भांत** रक्षा के हेतु उसे आर्त्तनाद से पुकारा तब मन से निकली हुई करुणोत्पादक प्रार्थना को सुन दयामय दयासागर ने मानो आज अपनी दया-दृष्टि द्वारा वर्षा ऋतु का प्रादुर्भाव कर इस अनाथ भारतीय प्रजा को सनाथ और अनुगृहीत किया है।"[1]

इस उद्धरण में रेखाङ्कित शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं है। 'लिया' के स्थान पर 'ली' का प्रयोग ही अधिक उचित है। 'भांत' शब्द लिपि-अशुद्धि

---

[1] 'वर्षा-ऋतु', 'हिन्दी प्रदीप', जून-जुलाई १९०४, पृ० ६।

के अन्तर्गत आ सकता है; इसका ठीक रूप 'भाँति' होना चाहिए। इस वाक्य में व्याकरणिक चिन्हों का प्रयोग नहीं हुआ है जिससे इसमें भाव-अस्पष्टता सी आ गयी है। लेखक को किसी भाषा में अपने भाव व्यक्त करते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी अभिव्यक्ति शुद्ध और स्वाभाविक हो। ऐसी दशा में उसे अपने भावों तथा विचारों को क्रमपूर्वक यथास्थान पर रखना होता है। इस कार्य में लिपि सम्बन्धी सङ्केत उसकी विशेष सहायता करते हैं। पाठक इन्हीं सङ्केतों के सहारे चलकर लेखक के भावों से परिचित होता है। इन्हीं लिपि-सम्बन्धी चिह्नों को विरामचिह्न कहा जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में इन चिह्नों का प्रयोग न होने से वाक्य-विन्यास में अस्पष्टता के साथ शिथिलता भी आ गयी है।

इसी तरह 'मनुष्य की आयु' निबन्ध में लिखा है—

"देवताओं ने समझा कि बात सही कहता है, इसलिए गधे की १८ वर्ष की आयु आदमी को दिया।"[1]

इस उद्धरण में 'दिया' के स्थान पर 'दी' का प्रयोग व्याकरण सम्मत है। इसी प्रकार 'मित्र' लेख में सूर्यनारायण लिखते हैं—

"आहा! इस दो अक्षर के शब्द को भी उस अखण्ड ब्रह्माण्ड-नायक परमेश्वर ने वह अलौकिक अद्भुत गुण प्रदान किया है कि जिसके बिना प्राणी मात्र का जीवन इस संसार में दुस्तर है।"[2]

उक्त उद्धरण में 'कि' का प्रयोग अनावश्यक है। इसके प्रयोग से प्रवाह में शिथिलता उत्पन्न होती है। 'जीवन' शब्द का प्रयोग 'जीना' क्रिया के अर्थ में हुआ है, यहाँ पर 'जीना' शब्द ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

'हमजोली की होली' लेख में भी शब्दों का रूप विशेषतया क्रियाओं का प्रयोग ठीक नहीं हुआ है--

"इस वर्ष होली की महफिल में सागर के मीर का सितार बजैगा और बाबू भगवानदीन का मृदङ्ग, रङ्ग उड़ैगा रङ्गनारायण पाल का महफिल की तयारी बेतिया के सुमति जी करैंगे।"[3]

इसमें 'बजैगा', 'उड़ैगा', 'करैंगे' शुद्ध खड़ी बोली की क्रियाओं के रूप नहीं है। उनके स्थान पर 'बजेगा', 'उड़ेगा', 'करेंगे' ही अधिक उपयुक्त हैं।

---

[1] 'सीता राम'—'भारतेन्दु', अगस्त १९०५, पृ० १५।

[2] सूर्यनारायण शर्मा—'छत्तीस गढ़-मित्र-पत्रिका', अगस्त १९०२।

[3] 'हमजोली की होली'—'रसिक रहस्य', १५ फरवरी १९०६, पृ० २५।

'तयारी' शब्द का प्रयोग भी ठीक नहीं है इसके स्थान पर 'तैयारी' रखना ही उचित प्रतीत होता है। 'रङ्ग उड़ेगा रङ्गनारायण पाल का' वाक्यांश पर उर्दू के वाक्य-विन्यास का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। हिंदी भाषा का यह साधारण नियम है कि वाक्य के आरम्भ में कर्त्ता, फिर कर्म और उसके बाद क्रिया का प्रयोग होता है। इससे व्याकरण के नियमानुसार इसका रूप 'रङ्गनारायण पाल का रङ्ग उड़ेगा' ही अधिक ठीक प्रतीत होता है।

'मनुष्य की आयु' में भी वाक्य विन्यास संबंधी अशुद्धियाँ देखने को मिलती हैं--

"यह सुनकर ब्रह्मा ने मुहँ बिगाड़ कर कुत्ते का १२ वर्ष भी दे दिया लेकिन उसका मन तब भी न भरा और लगा कहने।"[१]

'लगा कहने' के स्थान पर 'कहने लगा' ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

भाषा की इस अशुद्धता तथा शिथिलता को दूर करने के उद्देश्य से द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य अपने हाथ में लिया। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के लिए जो लेख आते थे उनमें आद्योपान्त काट-छाँट करके भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों का संशोधन कर, वे उन्हें प्रकाशित करते थे। यह बात नागरी-प्रचारिणी सभा के कला-भवन में संरक्षित 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यशोदानन्दन अखौरी की 'इत्यादि की आत्मकहानी', वेङ्कटेश नारायण की 'एक अशरफी की आत्मकहानी', पूर्णसिंह के 'आचरण की सभ्यता' तथा 'मजदूरी और प्रेम, रामचन्द्र शुक्ल का 'कविता क्या है' आदि निबन्धों की भाषा का संशोधन कर, वाक्य-विन्यास-सम्बन्धी शिथिलता को दूर कर ही उन्हें सरस्वती में प्रकाशित किया गया था। यही कारण है कि 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखो में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त 'भाषा और व्याकरण',[२] 'हिन्दी नवरत्न'[३] आदि निबन्धों की रचना भाषा को व्याकरण-सम्मत लिखने तथा लेखकों की व्याकरण-विरुद्ध उच्छृङ्खल गति को रोकने के लिए ही की गयी थी। द्विवेदी जी ने इस आलोचनात्मक कार्य के साथ रचनात्मक कार्य की ओर भी ध्यान दिया। उन्होंने गद्य-भाषा का आदर्श रूप अपने निबन्धों में स्थापित किया। भाव-स्पष्टता तथा बोधगम्यता के लिए सरल तथा प्रचलित शब्दों के प्रयोग के

[१] सीताराम—'भारतेन्दु', अगस्त १९०५।

[२] महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती'।

[३] ,, ,, ।

साथ सरल वाक्यों तथा व्याकरणिक चिह्नों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी—

'यह बात सिद्ध समझी गयी है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं।"[1]

द्विवेदी जी के भाषा के व्यावहारिक तथा शुद्ध रूप को लोगों ने सहर्ष अपनाया और उनकी भाषा को आदर्श मान कर साहित्य-रचना की ओर प्रवृत्त हुए।

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके अन्य समकालीन लेखकों के अधिक परिश्रम तथा सतत उद्योग के फलस्वरूप निबन्धों द्वारा हिन्दी भाषा के साहित्यिक गुणों के भी विकास हुआ। साहित्यिक भाषा का सबसे प्रमुख गुण है व्यावहारिक तथा सरल होना। द्विवेदी जी ने अपने निबन्धों में भाषा के सरल और व्यावहारिक स्वरूप को ही अपनाया और ऐसी ही भाषा लिखने के लिए अन्य लेखकों को प्रोत्साहित भी किया। सरल तथा व्यावहारिक भाषा ही लोक-प्रिय हो सकती है। अतएव हिंदी के प्रचारात्मक कार्य में भी इस प्रकार की भाषा ने अत्यधिक सहायता पहुँचायी। इसके अतिरिक्त निबन्धकारों ने ऐसी भाषा का प्रयोग कर अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त की। इस युग के नि बधकारों का प्रमुख उद्देश्य था पाठक की ज्ञानवृद्धि तथा रुचि-परिष्कार करना। इसका उल्लेख किया जा चुका है। उपयोगी साहित्य की रचना करना ही उनका प्रमुख ध्येय था। निबन्धों की रचना केवल निबन्ध के लिए ही नहीं की गयी, अतएव भाषा के उसी रूप को अपनाया गया जो जन-साधारण में प्रचलित था। निबन्धों द्वारा भाषा के जिस सरल तथा व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा हुई थी वह कथा-साहित्य के क्षेत्र में जाकर और भी विकसित हो गया।

साहित्यिक भाषा का दूसरा गुण है व्याकरण-सम्मत तथा नियम-बद्ध होना। संसार की प्रत्येक साहित्यिक भाषा का अपना व्याकरण होता है और उसी के नियमों के अनुसार उसे चलना होता है। द्विवेदी-युगीन निबन्धों द्वारा भाषा का यह गुण भी विकसित हुआ। साहित्य के अन्य अङ्गों में व्याकरण के

---

१ 'कवि और कविता'—'रसज्ञ-रञ्जन', पृ० ३१।

नियमों की ओर ध्यान देने की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती जितनी निबन्धों में। विचारात्मक निबन्धों में तो इसके नियमों का पालन और भी अधिक कठोर रीति से करना पड़ता है। इस युग के लेखकों ने अपने निबन्धों की भाषा को व्याकरण-सम्मत बनाने की ओर अत्यधिक ध्यान दिया जिससे उसके स्वरूप में स्थिरता आ गयी।

द्विवेदी-युग में भाषा की पाचन-शक्ति भी विकसित हुई। यह साहित्यिक भाषा का तीसरा गुण कहा जा सकता है। किसी भी भाषा के लिए यह आवश्यक होता है कि नवीन वातावरण में प्रवेश करने पर वह अपने को उसी के अनुकूल बना ले। नवीन भावों तथा विचारों को व्यक्त करने के लिए यदि किसी अन्य भाषा के शब्दों को अपनाना पड़े तो उन्हें इस तरह से ग्रहण करे कि उनका विदेशीपन बिल्कुल निकल जाय। इस भाँति भाषा अपनी मूल संस्कृति की रक्षा करती हुई आगे बढ़ती है। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने अपनी रचनाओं में अनेक विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु भाषा की प्रवृत्ति की रक्षा करने की ओर से उनका ध्यान कभी विचलित नहीं हुआ। उन्होंने अनेक विदेशी शब्दों को स्वदेशी जामा पहना कर अपनी भाषा की ग्रहण-शीलता को विकसित किया।

साहित्यिक भाषा की चौथी विशेषता है सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के प्रकाशन की क्षमता। भाषा का शब्द-भण्डार इतना सुसम्पन्न होना चाहिए कि लेखक अथवा वक्ता को अपने भाव प्रकट करने में अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग न करना पड़े। द्विवेदी-युग के पहले हिन्दी का शब्द-भण्डार बहुत ही सीमित तथा सङ्कुचित था। नवीन विषयों पर निबन्धों की रचना होने से भाषा के शब्द-भण्डार की वृद्धि हुई, अनेक नवीन शब्द संस्कृत की धातुओं के सहारे गढ़ने पड़े, यथोचित स्थान पर विदेशी भाषा के शब्दों के विदेशीपन को निकालकर भाषा समृद्धिशाली हो गयी और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों तथा विचारों के प्रकाशन की क्षमता उसमें आ गयी।

साहित्यिक भाषा जब प्रौढ़ता को प्राप्त हो जाती है तो उसमें थोड़े में अधिक कहने की क्षमता भी आ जाती है। इसे को दूसरे शब्दों में गागर में सागर भर देने वाली विशेषता भी कह सकते हैं। द्विवेदी-युगीन निबन्धों द्वारा भाषा की अभिव्यञ्जन-शक्ति में विकास होने के साथ उसमें इतनी प्रौढ़ता आ गयी कि वह 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' वाली विशेषता से युक्त हो गयी। रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में भाषा की यह विशेषता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गयी है।

उपसंहार

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में निबन्ध आधुनिक युग की उप त हैं। साहित्य के अन्य अङ्ग, कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि की भाँति निबन्ध का भी विशिष्ट स्थान है। तात्विक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि निबन्ध का स्वरूप साहित्य के अन्य अंगों से भिन्न है। कविता में भाव और कल्पना की प्रधानता रहती है, विचारों को उतना महत्व नहीं दिया जाता। नाटक में भी रसोद्रेक की प्रधानता होने से भाव पर ही अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अभिनय को अधिक महत्व दिया जाता है। नाट्यकार को निबन्धकार की भाँति आत्म-प्रकाशन की स्वतन्त्रता नहीं रहती, वह प्रसङ्गवश पात्रों के माध्यम से अपने विचारों का प्रकाशन कर सकता है। उपन्यास और कहानी में भी कथाकार घटनाओं के सजोने में इतना व्यस्त रहता है कि उसका व्यक्तित्व अधिक उभर नहीं पाता; परन्तु निबन्धकार सर्वत्र स्वतन्त्र रहता है; वह जब चाहे पाठकों को सम्बोधित कर उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। निबन्धकार को अपने निबन्ध में विचारों के प्रतिपादन के लिए भी अत्यधिक अवकाश मिल जाता है जिससे वह अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का निर्माण करने में स्वयं सहायक होता है।

हिन्दी में गद्य की रचना पद्य की अपेक्षा विलम्ब से हुई। निबन्ध आधुनिक गद्य-साहित्य का प्रमुख अङ्ग है। भारतेन्दु-युग में इसका जन्म तथा लालन-पालन हुआ, द्विवेदी-युग में इसको सँवारने, सुधारने तथा सजाने की ओर लोगों का ध्यान गया और आधुनिक युग में वह अपनी प्रौढ़ता की चरम सीमा के अत्यधिक निकट पहुँच गया है।

द्विवेदी-युग में परिस्थितियों से प्रभाव से लेखकों को नवीन विषय प्राप्त हुए। इन नवीन विषयों पर लिखे गये निबन्धों में व्यक्तिगत अनुभूति के साथ समाज के मार्ग-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ती है। राष्ट्रिय चेतना तथा समाज-सुधार की भावना को इन लेखकों की रचनाओं ने स्थायी तथा सुदृढ़ रूप प्रदान करने में भरसक प्रयत्न किया। देश की बिगड़ी हुई आर्थिक अव-

स्था पर उन्होंने केवल आँसू ही नहीं बहाये; वरन् जनता को उनकी दयनीय अवस्था के कारणों से परिचित करा, उसे सुधारने के लिए उपयुक्त मार्ग का निर्देशन भी किया। इस प्रकार इस युग के साहित्यकार विदेशी नीति के आलोचक होने के साथ-साथ समाज की रक्षा तथा उन्नति करने में अनायास ही देवदूत बन गये।

द्विवेदी-युग में विभिन्न प्रकार के निबन्धों की रचना हुई। वर्णनात्मक, विवरणात्मक, भावात्मक तथा विचारात्मक, सभी प्रकार के निबन्धों के उदाहरण लेखकों ने प्रस्तुत किये। भारतेन्दु-युग में भावात्मक निबन्धों की प्रधानता रही। परन्तु द्विवेदी-युग में विचारात्मक निबन्धों की ही अधिक रचना हुई। इस युग को यदि विचार-प्रधान निबन्धों का युग कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग में निबन्ध-कला का क्रमिक विकास देखने को मिलता है। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के साधारण पाठक के लिए लिखे गये निबन्धों से लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उच्चकोटि के विचारात्मक निबन्ध देखने को मिलते है, जहाँ एक-एक वाक्य खण्ड में विचार ठूँस-ठूँस कर भरे गए से प्रतीत होते हैं।

निबन्धों में शैली को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इस समय के निबन्धों में भाषा-शैली तथा भाव-शैली के विभिन्न रूपों के उदाहरण देखने को मिलते हैं। निबन्धों द्वारा ही गद्य की विभिन्न शैलियों का विकास होता है, यह बात इस युग के निबन्धों द्वारा पूर्णतया प्रमाणित हो जाती है। हिन्दी की जातीय शैली को विकसित करने में इस युग के निबन्धों ने अपूर्व सहयोग दिया है।

भाषा का परिमार्जन तथा उसकी अभिव्यञ्जन शक्ति का विकास भी इस युग के निबन्धों द्वारा हुआ है। भाषा को स्थिर रूप प्रदान करने तथा उसे व्याकरण-सम्मत बनाने में निबन्धों का प्रमुख हाथ रहा है। इस युग के निबन्धों द्वारा ही भाषा का वह साफ-सुथरा रूप निखर आया जो साहित्य के क्षेत्र में आज भी मान्य है।

परिशिष्ट

अनुवादित निबन्ध-साहित्य

भारतेन्दु-युग में रचनात्मक कार्य के साथ-साथ प्रचारात्मक कार्य भी बड़े उत्साह एवं लगन से किया गया। परन्तु विद्वान् लोग जब हिन्दी साहित्य की अन्य समृद्ध भाषाओं के साहित्यों से तुलना करने बैठते तो उन्हें हिन्दी का पलड़ा बहुत ही हल्का ज्ञात होता। अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क में आने पर उन्हें यह अनुभव होने लगा कि हिन्दी साहित्य को समृद्ध तथा उन्नतिशील बनाने के लिए उच्च कोटि के ग्रन्थों के अनुवाद भी प्रस्तुत किये जायँ। अनुवाद करने की प्रेरणा उन्हें अपने साहित्य के भीतर से ही मिली, कहीं बाहर से नहीं। तुलसीदास, सूरदास आदि ने भी संस्कृत ग्रन्थों का सहारा लिया था, केशवदास आदि कवियों ने संस्कृत ग्रन्थों को ही अपना आधार बनाया था और रीति-कालीन कवियों ने तो संस्कृत के आचार्यों द्वारा दिखाये हुए मार्ग का ही अनुसरण किया था। आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी के अन्य क्षेत्रों की भाँति इस क्षेत्र में भी पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। उन्होंने एक ओर हर्षदेव के संस्कृत नाटक का अनुवाद 'रत्नावली' नाटिका के नाम से प्रस्तुत किया तो दूसरी ओर सन् १८८० में अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का अनुवाद 'दुर्लभ बन्धु' के नाम से किया। भारतेन्दु ने अनुवादित साहित्य के प्रस्तुत करने का जो क्रम चलाया उसमें उनके समकालीन लेखकों ने पूर्ण योग दिया। इस अनुवाद कार्य के मूल में, विभिन्न भाषाओं के साहित्य की विशेषताओं की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित करने की प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है।

नाटक, उपन्यास, कविता आदि के क्षेत्र में यह अनुवाद-कार्य बड़े उत्साह के साथ चल रहा था, परन्तु अनुवादित निबन्ध साहित्य को उपस्थित करने की ओर भारतेन्दु-युग के लेखकों का ध्यान न जा सका। इस कार्य का श्रीगणेश पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा हुआ। उन्होंने लार्ड फ्रांसिस

बेकन के निबन्धों का अनुवाद सन् १९०१ में 'बेकन विचार-रत्नावली' के नाम से हिन्दी जनता के सामने रखा। इस पुस्तक में बेकन के कुछ चुने हुए निबन्धों का ही अनुवाद है, सब का नहीं जैसा कि इसकी भूमिका से ज्ञात होता है—

"बेकन ने सब ५८ निबन्ध लिखे हैं। उनमें से केवल ३६ का हमने अनुवाद किया है, शेष २२ निबन्धों का विषय प्रायः ऐसा है जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं। इसीलिए हमने उनको छोड़ दिया है।"[1]

इस से ज्ञात होता है कि इस अनुवाद ग्रंथ के उपस्थित करने में देश तथा जनता की प्रवृत्ति एवं रुचि को सदैव ध्यान में रखा गया है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने आगे कहा है—

"एक बात हमने और भी की है। वह यह है कि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से एक एक और कहीं-कहीं दो दो श्लोक प्रत्येक निबन्ध के शिरोभाग में उद्धृत कर निबन्ध और श्लोकों की एकवाक्यता हमने दिखायी है।"[2]

इससे स्पष्ट है कि अनुवादक का हृदय भारतीयता से ओत-प्रोत है। वह एक पश्चिमी विद्वान के विचारों के विषय में यह दिखाना चाहता है कि ये विचार भारतीय संस्कृत ग्रन्थों में बहुत पहले से विद्यमान हैं।

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने, इसके पश्चात, मराठी भाषा में लिखी पण्डित विष्णुकृष्ण शास्त्री चिपलूनकर की निबन्धमाला का अनुवाद 'निबन्धमाला दर्श' के नाम से उपस्थित किया। इस ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

'निबन्धमाला में शास्त्री जी के लिखे हुए लगभग ३५ विषयों पर लेख हैं। इनमें से कुछ लेख तो ऐसे हैं जो एकदेशीय ही हैं अर्थात् मराठी पाठकों के लिए ही लिखे गये हैं और शेष वैसे नहीं है, क्योंकि उनमें किञ्चित परिवर्तन करने से वे सर्व साधारण के लिए एक से उपयोगी हो सकते हैं।"[3]

इस ग्रन्थ में केवल पाँच निबन्ध, 'विद्वत्व और काव्यत्व', 'समालोचना', 'अभियान', 'सम्पत्ति का उपयोग' तथा 'वक्तृता' का ही अनुवाद है।

इन अनुवादित निबन्ध ग्रन्थों को प्रस्तुत करने में अनुवादकों का मूल उद्देश्य हिन्दी-लेखकों को निबन्ध-रचना की ओर आकर्षित करना ही था। निबन्धों का क्या आदर्श होना चाहिए, यही भावना इन अनुवाद-ग्रन्थों के उपस्थित करने में प्रतिध्वनित हो रही है। इन ग्रन्थों को देखने से एक

---

[1] 'बेकन विचार-रत्नावली', भूमिका, पृ० ६।

[2] " " पृ० ७।

[3] 'निबन्धमालादर्श—भूमिका।

बात और ज्ञात होती है कि इसमें लगभग सभी निबन्ध विचारात्मक हैं। हिन्दी में विचार-प्रधान निबन्धों की कमी देखकर तथा हिन्दी लेखकों का ऐसे निबन्धों की रचना की ओर ध्यान दिलाने के लिए ही ये अनुवाद-ग्रन्थ तैयार किये गये थे। बेकन के निबन्ध तो अँगरेजी साहित्य में आज भी आदर्श विचारात्मक निबन्ध माने जाते हैं। हिन्दी लेखकों को उसके निबन्धों की विशेष-ताओं से परिचित कराने के लिए तथा हिन्दी के विचारात्मक निबन्धों को उन्हीं विशेषताओं से युक्त करने के लिए भी इस अनुवाद-कार्य में एक सूक्ष्म सङ्केत मिलता है।

द्विवेदी-युग की पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक अनुवादित निबन्ध समय-समय पर प्रकाशित हुआ करते थे। इन निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम विभाग के अन्त-र्गत आने वाले निबन्ध अक्षरशः अनुवाद हैं और द्वितीय, भावानुवाद अथवा छायानुवाद हैं। 'औरङ्गजेब का राज्याभिषेक'[१], 'चीन की क्रान्ति'[२], 'प्लेटो और राजनीति'[३], 'भारतीय समाज का स्वराज्य'[४], 'हिन्दू विवाह'[५], 'योरोप और भारत'[६], 'इतिहास तत्व-चिन्तन'[७], 'भारतवर्ष में शिक्षा का आधुनिक

---

१. यदुनाथ सरकार, एम० ए०—'इण्डियन रिव्यू', अनुवादक—लक्ष्मी शङ्कर—'मर्यादा', दिसम्बर-जनवरी, सङ्ख्या २-३, सन् १९११-१२।

२. मि० एफ०ए० मैकन्जी, अनुवादक-लक्ष्मी शङ्कर अवस्थी—'मर्यादा', फरवरी, १९१२।

३. शिवनारायण द्विवेदी 'प्लेटो'—अनुवादक रामचन्द्र गणेश-'मर्यादा', अक्टूबर, १९१४।

४. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—अनुवादक-हरिशंकर मिश्र, 'मर्यादा', सङ्ख्या ४, अगस्त, १९१३।

५. १४ फरवरी, १९१४ शनिवार को कलकत्ते के यूनिवर्सिटी इंस्टी-ट्यूट में कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज बाबू शारदा चरण मित्र की अध्यक्षता में पढ़ा हुआ अँगरेजी निबन्ध का अनुवाद है—अनुवादक-बालमुकुन्द बाजपेयी, 'मर्यादा', फरवरी १९१६।

६. प्रो० विनयकुमार सरकार—अनुवादक-हेमचंद्र जोशी, 'मर्यादा', मार्च, १९१४।

७. प्रो० आनन्द शङ्कर—अनुवादक गङ्गा प्रसाद महता, 'मर्यादा', जून, १९१४।

क्रम[1]', 'कला और स्वदेशी[2]', 'शनिग्रह[3]', 'हमारी दरिद्रता और अर्थ-विज्ञान की सार्थकता[4]', 'भाव और बुद्धि[5]', 'प्राचीन देवताओं पर नयी विपत्ति[6]', 'पुरुषों के कर्तव्य कर्म[7]', 'भारतवर्ष में देश सम्बन्धी एकता[8]', 'भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त इतिहास[9]', 'आकाश गंगा[10]' आदि निबन्ध प्रथम कोटि के हैं। इन निबन्धों में मूल लेखक के भावों तथा विचारों की यथाशक्ति रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। इन निबन्धों में अधिकांश भारतीय विद्वानों द्वारा ही लिखे गये हैं जो तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करते थे। हिन्दी जनता को उनके

---

१. सी० एन० जोशी का 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में प्रकाशित 'दि परफेक्ट सिस्टम आफ एजुकेशन' (The Perfect System of Education) निबन्ध का अनुवाद है—अनुवादक विश्वेश्वर प्रसाद, 'मर्यादा', फरवरी, १९१५।

२. डा० ए० के० कुमार स्वामी के 'दि आर्ट एण्ड स्वदेशी' (The Art and Swadeshi) निबन्ध का अनुवाद है—अनुवादक-परशुराम चतुर्वेदी, 'मर्यादा', जून, १९१५।

३. अदीश्वरधर का बङ्गभाषा के मासिक पत्र 'भारतवर्ष' में प्रकाशित 'शनिग्रह' लेख का अनुवाद है—अनुवादक-चन्दी प्रसाद, 'मर्यादा', जून, १९१५।

४. श्री राधाकमल मुखोपाध्याय—अनुवादक बालगोविन्द नारायण सिंह, 'इन्दु', जनवरी, १९१४।

५. श्री युत शशधर, एम० ए०, बी० एल०—अनुवादक रामप्रसाद दुबे, 'सरस्वती', जुलाई, १९२५।

६. रवीन्द्रनाथ ठाकुर—अनुवादक राजेन्द्र सिंह, 'माधुरी', जून, १९२४।

७. चन्द्रप्रभा बाई का मराठी पत्रिका 'मासिक मनोरंजन' में प्रकाशित लेख का अनुवाद है—'छत्तीसगढ़ मित्र पत्रिका', अक्टोबर, १९०२।

८. राधाकुमुद मुकर्जी का 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित 'दि फण्डामेण्टल यूनिटी आफ इण्डिया' (The Fundamental Unity of India) निबन्ध का अनुवाद है—अनुवादक गङ्गा शङ्कर मिश्र, 'सरस्वती', जुलाई, १९१४।

९ डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के लेख का अनुवाद है, 'सरस्वती', सितम्बर, १९१४।

१०. गुजराती 'महाकाल' नामक पुस्तक से अनुवादित है—अनुवादक श्री लाल शालग्राम पाण्डया, 'सरस्वती', आक्टोबर, १९१५।

निबन्धों में अभिव्यक्त विचारों से परिचित करने के हेतु ही इनका अनुवाद हिन्दी में किया गया है।

द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत आने वाले निबन्धों में मूल लेखक के विचारों की, जहाँ तक सम्भव हो सका है, रक्षा करने का प्रयत्न किया गया है। इन निबन्धों में अनुवादक ने अपने विचारों का भी कहीं-कहीं पुट दे दिया है। परन्तु ऐसा करने में मूल लेखक के विचारों की आत्मा का हनन कभी नहीं हुआ है। अनुवादक ऐसे विचारों को विभिन्न परिस्थितियों तथा वातावरण के अनुकूल, परिधान से युक्त कर पाठक वर्ग के समक्ष रखने का प्रयत्न करता है। 'सिराजउद्दौला'[१], 'समालोचना'[२], आधुनिक शिक्षा पद्धति'[३], 'काला पहाड़'[४], 'गौरव का मूल कारण'[५], 'शिक्षा-संस्कार'[६], 'इँगलैण्ड की शासन-पद्धति'[७], 'सामुद्रिक लड़ाई'[८], 'चीन की गुप्त सभाएँ'[९],

---

१. बँगला प्रबन्ध के आधार पर—'कृष्ण चैतन्य गोस्वामी', 'मर्यादा', मार्च, १९१२।

२. विलियम हैज़लिट के 'क्रिटिसिज्म' निबन्ध के आधार पर—कृष्ण बिहारी मिश्र, 'मर्यादा', जून, १९१२।

३. पट्टाभि सीता रमैया के 'इण्डियन नेशनल एजुकेशन' के आधार पर—बनारसीदास चौबे, 'मर्यादा', नवम्बर, १९१२।

४. उड़िया मासिक पत्र 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित 'काला पहाड़' के आधार पर—मुकुट धर पाण्डेय, 'मर्यादा', दिसम्बर, १९१२।

५. जान रस्किन के 'दि रूट्स आफ आनर' के आधार पर—सोमेश्वरदत्त 'मर्यादा', अक्टूबर, १९१३।

६. रविन्द्रनाथ ठाकुर की 'शिक्षा' नामक निबन्धावली में से एक लेख का मर्मानुवाद—नाथूराम प्रेमी, 'मर्यादा', दिसम्बर, १९१३।

७. प्रिं० दामोदर गणेश पाध्ये, एम०ए० के एक लेख के आधार पर—शिवनारायण द्विवेदी, 'मर्यादा', जनवरी, १९१५।

८. 'इण्डियन रिव्यू' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर–राजाराम, 'मर्यादा', जनवरी, १९१४।

९. 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर–नारायण प्रसाद अरोड़ा, 'मर्यादा', मार्च, १९१५।

'नवीन सम्पति शास्त्र'[१], 'मनुष्य उन्मादक वस्तुओं का प्रयोग क्यों करते हैं'[२],

'स्वतन्त्र विचार'[३], 'हिन्दुओं का अन्तिम प्रजातन्त्र राज्य'[४], 'हमारे गरीब मजदूर और समाज की श्रेणियाँ'[५], 'उत्तर प्रदेश के प्राचीन ऐतिहासिक स्थान'[६], 'पुष्पात्मा'[७], 'सम्पादकीय योग्यता'[८], 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति'[९], 'मलेरिया'[१०], 'लन्दन में तातील का दिन'[११], 'ब्रिटिश पार्ल्यामेण्ट'[१२], 'नीति

---

१. जानरस्किन के निबन्धों के आधार पर—सोमेश्वर दत्त शुक्ल, 'मर्यादा', मार्च, १९१५।
२. टाल्सटाय के 'ह्वाई डू मेन स्टूपीफाई देमसेल्व्ज' के आधार पर—मर्यादा प्रसाद वर्मा, 'मर्यादा', एप्रिल, १९१५।
३. शोपेनहार के 'सेल्फ थिङ्किङ्ग' के आधार पर—शारदा प्रसाद दुबे, 'मर्यादा', जून, १९१६।
४. 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर—जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, 'मर्यादा', नवम्बर, १९१६।
५. 'माडर्न रिव्यू' के एक लेख का छायानुवाद—पण्डित रुद्रदत्तभट्ट, 'इन्दु', जुलाई, १९१४।
६. हीरानन्द शास्त्री के निबन्ध का छायानुवाद—नवलकिशोर, 'काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', मार्च-अप्रैल, १९१६।
७. मेटरलिङ्क के 'परफ्युम्स' के आधार पर—बनमाली प्रसाद शुक्ल, 'सरस्वती', जनवरी, १९२३।
८. अँगरेजी लेखों के आधार पर – महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'सरस्वती, जून, १९०७।
९. 'प्रवासी' में प्रकाशित एक लेख के आधार पर—महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'सरस्वती', नवम्बर, १९०९।
१०. ब्लेकी साहब के 'सेल्फ कल्चर' निबन्ध के आधार पर—पण्डित गणेश काशीनाथ अग्निहोत्री, 'छत्तीसगढ़ मित्र पत्रिका', मार्च, १९००।
११. मराठी लेखक शारदाश्रय वासी के लेख के आधार पर—प्यारेलालमिश्र, प्रभुशंकर 'सरस्वती', फरवरी, १९०९।
१२. 'वसन्त' में प्रकाशित श्रीयुत रमण भाई महीपतराय के लेख की छाया, प्रभुशङ्कर मेहता, 'सरस्वती', मार्च, १९१५।

शिक्षा"[१], आदि निबन्धों की गणना इसी वर्ग में की जा सकती है। इन निबन्धों को प्रस्तुत करने में भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों के निबन्धों को आधार बनाया गया है। भारतीय विद्वानों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रि० दामोदर गणेश पाध्ये, पट्टाभि सीता रमैया, डा० पराञ्जपे आदि के निबन्धों को तथा पश्चिमी विद्वानों में जान रस्किन, टाल्सटाय, शोपेन हार, मेटरलिङ्क, मिल, ब्लेकी आदि के निबन्धों को आधार बनाया गया है।

इन निबन्धों को देखने से ज्ञात होता है कि जहाँ प्रथम कोटि के निबन्धों का भाषा तथा भाव, दोनों की दृष्टि से अधिक महत्व है, वहाँ द्वितीय कोटि के निबन्धों का भाव तथा विचार की दृष्टि से। निबन्धों का अनुवाद प्रस्तुत करने में अनेक नवीन शब्दों की खोज करनी पड़ी, तथा जहाँ पर खोजने से शब्द नहीं मिले वहाँ अनेक शब्दों को गढ़ना भी पड़ा। इससे भाषा का शब्द-भण्डार सुसम्पन्न हो गया। द्वितीय वर्ग के निबन्धों में पाठक को विभिन्न विद्वानो के विचारों से परिचित कराने का ही अधिक प्रयत्न है। अतएव एक ओर इस कार्य से भाषा की अभिव्यञ्जन शक्ति का विकास हुआ तथा उसका शब्द-भण्डार सुसमृद्ध बना तो दूसरी ओर पाठक की ज्ञान-वृद्धि तथा साहित्य के नव-निर्माण की प्रेरणा भी दी गयी। इस अनुवाद-कार्य में लेखक सदैव सतर्क रहे, परन्तु कहीं-कहीं पर भाषा की आत्मा को शुद्ध रखने में विचलित से हो गये हैं। इन अनुवादों में जहाँ अनेक नवीन शब्द भाषा में आये वहाँ कुछ ऐसे भी आ गये जो भाषा की आत्मा से मेल नहीं खाते थे। जैसे कुछ मुहावरों अथवा लाक्षणिक पदों का अक्षरशः अनुवाद शुद्ध भाषा की दृष्टि से उचित नहीं हुआ है।

द्विवेदी-युग में अनुवादित निवन्ध साहित्य उपस्थित करने की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है उससे बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य हुआ, यह तो सभी को मानना पड़ेगा, परन्तु जो कार्य हुआ है वह सन्तोष-जनक नहीं कहा जा सकता। अँगरेजी, लेटिन, जर्मन, फ्रेञ्च, रूसी आदि पाश्चात्य भाषाओं में निबन्धों के अनेक मूल्य ग्रन्थ हैं जिनकी ओर उस युग के लेखकों ने अधिक ध्यान नहीं दिया यद्यपि पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बेकन के निबन्धों का अनुवाद कर पथ-प्रदर्शन अवश्य किया था, परन्तु उनके समकालीन लेखकों को रुचि अनुवादित निबन्ध-साहित्य के प्रस्तुत करने में अधिक नहीं दिखायी देती। इस युग के अनेक विद्वानों ने हिन्दी साहित्य को

---

[१]. डा पराञ्जपे के लेख के आधार पर—लल्ली प्रसाद पाण्डेय, 'सरस्वती', नवम्बर, १९०९।

समृद्ध बनाने के लिए अनुवादित साहित्य को प्रस्तुत करने पर बल दिया; 'अनुवाद-ग्रन्थों की आवश्यकता',[१] 'हिन्दी की उन्नति के उपाय'[२] इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं; परन्तु कहना ही पड़ता है कि नाटक, कहानी, उपन्यास आदि के क्षेत्रों में जिस तीव्र गति से अनुवाद-कार्य हुआ है उतना निबन्ध के क्षेत्र में नहीं; तथापि इस युग में इस क्षेत्र में जो कुछ भी कार्य हुआ, उसने भावी लेखकों के लिए पथ-प्रदर्शन अवश्य किया है, उनके मार्ग को प्रशस्त कर दिया है, और यही उसका अपना महत्व है।

---

[१] रूपनारायण पाण्डेय—'सरस्वती', मई, १६१३।

[२] बद्रीनाथ भट्ट—'सरस्वती', अगस्त, १६१३।

अनुक्रमणिका

(क) लेखक-सूची

(ख) पुस्तक-सूची

(ग) पत्र-पत्रिका-सूची